ॐ

卐 श्रीदक्षिणामूर्तिर्विजयतेतराम् 卐

# केनोपनिषत्

पद-वाक्य-भाष्यों का अनुवाद

शृंगेरी मठ

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर अनंतश्रीविभूषित
*स्वामी महेशानन्द गिरि जी*
महाराज की आज्ञा से

श्रीमती कमलादेवी मेहता
की पुण्य स्मृति में उनके
पुत्र-पुत्रियों द्वारा

हरद्वार महाकुम्भ पर्व सं. २०५५
पर धर्मार्थ वितरित

ॐ

卐 श्रीदक्षिणामूर्तिर्विजयतेतराम् 卐

# केनोपनिषत्

पद-वाक्य-भाष्यों का अनुवाद

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित
**स्वामी महेशानन्द गिरि जी**
महाराज की आज्ञानुसार


*श्रीमती कमला देवी मेहता*
*की पुण्य स्मृति में उनके*
*पुत्र-पुत्रियों द्वारा*


सम्वत् २०५५ हरद्वार पूर्णकुम्भ अवसर पर
धर्मार्थ वितरित

**श्रीमती कमला देवी मेहता**
की पुण्य स्मृति में उनके
पुत्र-पुत्रियों द्वारा
**प्रकाशित**

★

**सम्वत् २०५५**
हरद्वार पूर्णकुम्भ अवसर पर
धर्मार्थ वितरित

★

**मुद्रक :-**
शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी
**नव ज्योति प्रेस,**
भीकचन्द मार्ग,
मथुरा (उ० प्र०)

ॐ

# प्राक्कथन

सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण का अंश केनोपनिषद् है एवं अष्टोत्तर शत उपनिषदों में इसे द्वितीय उपनिषद् माना गया है। इसमें गुरु-शिष्य के संवाद रूप में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करके इन्द्र की कथा के द्वारा उसको सरलता से समझाते हुए अंत में इसकी प्राप्ति के लिये उपासना तथा अन्य साधनों का संकेत करके संक्षेप में सारे ही वेदांत के तात्पर्य को खोला गया है।

शिष्य का प्रश्न हम सभी के मन को झकझोरने वाला है क्योंकि हम दोनें चीजों का अनुभव करते हैं—कभी हम क्रिया करने में अपने को स्वतंत्र, तो कभी सर्वथा पराधीन पाते हैं। ऐसी पराधीन स्थिति में भी लगता है मानो हमारी स्वतंत्रता है और अत्यंत स्वतंत्र अवस्था में भी लगता है कुछ परिच्छेद हमको परतन्त्र बनाते हैं। ये परिच्छेद आन्तरिक भी होते हैं अर्थात् हमारे मन के संस्कार, प्राणों के धर्म, शरीर की सीमायें; कभी बाहर के होते हैं, जैसे समाज, राज्य, भौतिक उपकरणों की अनुपलब्धि आदि। अतः हर साधक जानना चाहता है कि इन सबको प्रवृत्त करने वाला कौन है। गुरु इस प्रश्न का जवाब देते हैं कि जो इन सबका अधिष्ठान है, जिसके कारण ये सब प्रवृत्त होते हैं वही इन सबका एकमात्र नियामक होने पर भी सर्वथा समभाव से रहता है। जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह अज्ञान के कारण प्रतीत होने वाले अहं से लेकर बाह्य उपकरणों तक की प्रतीति के साथ तादात्म्य सम्बंध होने के कारण है। चूँकि वह सबका प्रवर्त्तक है अतः वह स्वयं कभी भी किसी प्रवृत्ति का विषय नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। फिर भी, बिना विषय हुए ही स्वयं प्रकाश होने से जो पहले अज्ञात था वह अज्ञात रह नहीं जाता। इसीलिये उसको कहीं-कहीं विदित भी कहा गया है और कहीं-कहीं अविदित भी कह दिया गया है।

इसकी प्राप्ति की कठिनाई को बताने के लिये यक्ष के रूप में प्रकट

भगवान् शंकर अग्नि और वायु को प्रतीत भी हुए, पर फिर भी जाने नहीं गये। अतः वे विदित होते हुए भी अविदित ही थे। उमा के द्वारा जब उनका परिचय कराया गया तो इन्द्र ने उन्हें जाना। पर जब उनको जाना, तब वे वहाँ नहीं रह गये। अज्ञाननिवृत्ति के बाद ज्ञात हुआ भी वस्तुतः नहीं रह जाता इस बात को रुचिकर ढंग से प्रकट किया गया है।

इसके बाद हर क्षण उनकी उपासना कैसे की जाय इसे बताने के लिये आँख का बन्द होना इत्यादि प्रतिदिन के अनुभवों के ऊपर चित्त एकाग्र करने का विधान करते हुए सबसे अंत में सत्य का सर्वाधिक महत्त्व देते हुए सत्य को ही उसका आयतन कहा गया है।

यह उपनिषद् आचार्य शंकर को इतनी महत्त्वपूर्ण लगी कि उन्होंने इस पर पदार्थों का वर्णन कर देने के बाद वाक्यार्थ का वर्णन करते हुए विचार किया। वाक्यर्थ में तात्पर्य का निर्णय प्रधान हो जाता है। आनन्द गिरि स्वामी ने दोनों ही भाष्यों पर अतिविद्वत्तापूर्ण टीका की है। स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि ने दोनों ही भाष्यों का टीका के साथ संग्रह पहले प्रकाशित किया था। श्री बिशनदास मेहता का विचार हुआ कि जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं अतः टीका के विशिष्ट विश्लेषणों से परिचित होने में असमर्थ हैं, उन्हें भी इसका लाभ मिले अतः केवल भाष्यार्थ को स्पष्ट करने वाले उस ग्रन्थ का संक्षेप इसमें प्रकाशित किया गया है। कुम्भ के समय इसका वितरण करके विविदिषु गृहस्थ के साथ-साथ संन्यासियों के भी यह विचार का ग्रंथ बने ऐसी हमारी अभिलाषा है। श्री मेहता जी इस प्रकार से हर संन्यासी के उपकार के लिये तथा अन्य मुमुक्षुओं के उपकार के लिये इस प्रकार के ग्रन्थ प्रकाशित करते रहें एवं इसके पुण्य से जीवन्मुक्ति के भागी बने यही भगवान् उमारमण से प्रार्थना है।

**मकर संक्रांति २०५४** — **भगवत्पादीय**

महेश नगर — *महेशानन्दगिरि*

ओयल (हि.प्र.)



ॐ

# केनोपनिषत्

पद-वाक्य-भाष्यों का अनुवाद

## भूमिकाग्रन्थ

परब्रह्म को विषय करने वाली 'केनेषितम्' इत्यादि उपनिषत् बतायी जाने योग्य है इसलिए यह नवाँ अध्याय प्रारम्भ किया जा रहा है।

इससे पूर्व श्रुति ने मन्त्रों एवं ब्राह्मण वाक्यों द्वारा कर्मों को पूरी तरह भली-भाँति समाप्त करा दिया है,सांगोपांग कर्मविधान हो चुका है। सारे कर्मों का आश्रय है प्राण--सूत्रात्मा। ज्ञान-क्रियाशक्ति सूत्रात्मा में ही स्वरूपतः और फलतः कर्म स्थित रह सकता है। उस प्राण की विविध उपासनायें भी बतायी जा चुकी हैं। कर्मों के अंगभूत जो पाँच या सात विभाजनों वाले साम हैं, उनकी उपासना का सफल वर्णन किया जा चुका है। इसके बाद गायत्र-साम के विषय में उपासना बतायी और फिर वंश बता दिया अर्थात् गुरुपरम्परा कह दी। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ तक जो कुछ बताया वह कर्तव्यकोटि का है और उससे व्यक्त प्रपंच के अन्तर्गत ही फल मिलते हैं।

अनेक प्रकार के कर्म और कर्मों के आत्मभूत अर्थात् आश्रय रूप प्राण की विविध उपासनायें समझा दीं। कर्म और उपासना में से किसी एक का भी अनुष्ठान किया जा सकता है और इन्हें मिलाकर भी अनुष्ठान हो सकता है। केवल कर्म करा जाये तो दक्षिणायनादि मार्ग से चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गलोक मिलता है तथा पुण्य क्षय होने पर लौट आना पड़ता है। कुछेक उपासनायें ऐसी हैं जिन्हें बिना कर्म भी किया जाये तो उत्तरायण मार्ग की प्राप्ति होती है और कर्मसमुच्चित उपासना से तो होती है ही। इस मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचा

१. श्रीदक्षिणामूर्तिमठ काशी द्वारा प्रकाशित 'केनोपनिषद्भाष्यद्वयम्' का भाष्यानुवादांश।

जाता है जहाँ से बहुत लम्बे समय तक लौटना नहीं पड़ता। इसी से कह देते हैं कि वह अनावृत्ति का मार्ग है अर्थात् ऐसा रास्ता है जिससे जाकर लौटना नहीं पड़ता।

सांसारिक सब कामनायें छोड़कर मोक्ष की ही कामना वाला होकर इन सब कार्य व उपासनाओं का यथाविधि ठीक तरह अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध होता है।

एवं च सांसारिक फलों की अभिलाषा छोड़कर उपासना, कर्म और इनके समुदाय के अनुष्ठान से जो अपना संस्कार कर लेता है, अपनी सफाई कर लेता है, सुधार कर लेता है, उसमें जो आत्मज्ञान में रुकावट डालने वाली अनात्मप्रवणता—भोग-उत्सुकता—है, वह नष्ट हो जाती है। यही चित्तशुद्धि है। अनात्मा की ओर जाने से अनर्थ ही मिलता है यह उसे निश्चय हो जाता है। द्वैतरूप विषयमात्र में अनर्थप्रदता वह दोष है जो शुद्धचेतस्क व्यक्ति को स्वभावतः दीखता है। आत्मा से बहिर्भूत जितने विषय हैं उनकी सही जानकारी इतनी ही है कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख देकर वे कृतकार्य हो जाते हैं; क्षेत्र को लाँघकर क्षेत्रज्ञ तक किसी भी तरह पहुँच नहीं पाते। यह जिस व्यक्ति को समझ आ जाता है वह फिर संसार के बीजभूत अज्ञान को ही समाप्त करना चाहता है। जब वह पाता है कि विषय मुझसे कुछ दूर ही रह जाते हैं तो सहज ही उसे जिज्ञासा होती है कि 'मैं हूँ कौन जो प्रत्यग्-रूप से ही 'विषय' किया जा सकता हूँ?'

ऐसे जिज्ञासु को आत्मा के स्वरूप की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए 'केनेषितम्' आदि अध्याय आरंभ किया जा रहा है।

संसार की सदोषतारूप यथार्थता का और प्रत्यगात्मा का सही ज्ञान जिसे नहीं है वह कामनापूर्वक सिर्फ़ श्रौत-स्मार्त कर्म करता रहता है जिससे दक्षिणायनादि मार्ग पाकर स्वर्ग जाता है जहाँ से शीघ्र ही लौट आना पड़ता



है। किन्तु इसके लिए भी शास्त्रसंस्कार, श्रद्धा आदि चाहिये। शास्त्रादि के संस्कारों के बिना, सहज प्रवृत्ति तो प्रायः शास्त्रविरुद्ध ही होगी और उसका फल पशुओं से लेकर पौधों तक की नीच योनियों की प्राप्ति है।

छान्दोग्यश्रुति ने भी बताया कि जो कर्म व उपासना इनमें से किसी एक मार्ग पर भी नहीं चला वह क्योंकि निषिद्धाचार वाला ही होगा इसलिए वह ये छोटी योनियाँ पाता रहेगा जिनका शीघ्र ही बार-बार जन्म-मरण होता रहता है। ऐसे लोगों का तो 'जन्म लो और मरो'—यह तीसरा रास्ता है, उत्तर-दक्षिण वाले मार्गों की संभावना कहाँ? ऋक्संहिता में भी बताया है कि तीन प्रजाओं ने ज्ञान व कर्म के मार्गों को छोड़े रखा अतः कष्टमयी गति पायी।

प्रत्यगात्मा को सही तरह समझने की उत्कट अभिलाषा उस शुद्धमना व्यक्ति को होती है जो अनात्मभूत अनित्य विषयों से विरक्त है। राग के विषय ये ही हैं—साध्य, साधन और उनसे सम्बन्ध। इन विषयों से वैराग्य तब हो जब मन में संस्कारविशेष अर्थात् विवेक के संस्कार प्रकट हों, विवेक कदाचित् तो सभी करते हैं पर उनके संस्कारों को अविवेक संस्कारों से तुरन्त ढाँक देते हैं। इस जन्म या पूर्व अनेक जन्मों में भी किये पुण्यों से भगवत्कृपा द्वारा विवेक संस्कार उद्बुद्ध हों तो संसार के प्रति वैराग्य हो। वैराग्य का स्पष्ट रूप यही है कि सांसारिक भोगों की कामना न हो। ऐसे पुरुषधौरेय को ही आत्मजिज्ञासा हो सकती है, अन्यथा कुतूहलमात्र होकर रह जाता है। 'केनेषितम्' आदि सवाल जवाब से यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है। कर्म व उपासना के प्रसंग सुनकर उनके फलों की ओर जो लुब्ध नहीं हुआ वह आगे मन आदि के मालिक को जानना चाह रहा है। इसीलिये गुरु इस आत्मवस्तु का उसे प्रदर्शन करा देंगे।

कठोपनिषद् में भी बताया है—इन्द्रियाँ बहिर्मुखी बनाकर ब्रह्मा जी ने मानो हिंसा ही कर दी है, मार ही रखा है! अतः सब बाहर देखते हैं, अन्तरात्मा की ओर दृष्टि नहीं करते। अमरता चाहने वाला कोई ही बुद्धिमान् होता है

जो इन्द्रियों को पलट लेता है, प्रत्यगात्मा को देख लेता है।

मुण्डकोपनिषत् का भी उपदेश है—ब्राह्मण को चाहिये कि कर्मफलों की परीक्षा कर यह समझे कि कर्म से मोक्ष नहीं मिला करता। अतः वह कर्मफल के प्रति वैराग्य करे और जिस नित्य सच्चिदानन्द को चाहता है उसके अनुभव के लिए हाथ में भेंट लेकर वेदज्ञ और परमार्थदर्शी गुरु की शरण जाये।

इस तरह निश्चित है कि वैराग्यवान् में ही प्रत्यगात्मा के बारे में श्रवण-मनन-निदिध्यासन करने का और प्रत्यगात्मा के साक्षात्कार का सामर्थ्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यह जो प्रत्यगात्मा को ब्रह्म समझना है इससे संसार के बीजभूत अज्ञान की पूरी तरह निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान ही कामना और कर्म में प्रवृत्ति का कारण बनकर संसार को विस्तृत करता है। अज्ञान हट जाने से संसार-समाप्ति सहज ही है।

वेद में कहा है—जिसे अद्वैत का शास्त्रानुसार दर्शन हो गया उसे उस आत्मस्वरूप में कौन-सा मोह और कौन-सा शोक हो सकता है! सामवेद में कहा है—आत्मवेत्ता शोक से पार चला जाता है। अथर्ववेद की घोषणा है—जो पर (ईश्वर) और अवर (जीव) है उस अखण्ड के दीख जाने पर हृदय की गाँठ (अहंकार) खुल जाती है, आत्मविषयक सब संदेह मिट जाते हैं और इस द्रष्टा के कर्म क्षीण हो जाते हैं। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि उपनिषत् से होने वाला ज्ञान सफल है। मृत्यु का कारण अज्ञान है जिसके सहारे सारा संसार टिका है। औपनिषद तत्त्वज्ञान से वह अज्ञान समाप्त कर देना चाहिये ताकि दुःख समूल निवृत्त हो जाये।

क्योंकि आत्मा सही तरह समझा नहीं गया है इसलिये उसके बारे में सही जानकारी की इच्छा संगत है।

कर्मविषयक प्रकरण में आत्मा की वास्तविकता का कथन नहीं किया



गया है। आत्मा का सच्चा स्वरूप कर्म का विरोधी होने से जो आत्मतत्त्व शुद्धचेता के लिये जिज्ञास्य है वह कर्मकाण्ड में प्रतिपादित नहीं है।

आत्मस्वरूप की जानकारी रहे और कर्म भी चलता रहे तो क्या मोक्ष नहीं होगा?

नहीं; मोक्ष के लिए कर्मसाहचर्य की कोई जरूरत नहीं है। वेद ने स्वयं स्पष्ट किया है कि कर्म मोक्ष से भिन्न लाभों के प्रति ही कारण बनता है। बृहदारण्यक में सारी कामना को इकट्ठा कर दिया—पत्नी, प्रजा, वित्त और कर्म, बस ये ही चीजें कोई भी चाह सकता है। अतः इन्हें ही सब बटोरते हैं। इनसे मिलता क्या है? आगे वहीं बताया कि इस लोक पर विजय प्राप्त करने का उपाय पुत्र है, अन्य कर्म नहीं। कर्मों से पितृलोक मिलेगा तथा उपासना से देवलोक मिलेगा। पत्नी और वित्त तो पुत्र और कर्म-उपासना के लिए हैं। इस प्रकार आत्मा से भिन्न तीनों लोकों की प्राप्ति का उपाय कर्म उपासना हैं अतः इनको मोक्ष का उपाय नहीं मान सकते।

क्या कारण है कि कर्मसहित ज्ञान नहीं हो सकता जिससे इनका समुच्चय मोक्ष दे? जब कर्मकाण्ड को प्रमाण बने रहने के लिए आत्मा चाहिए तब वेदान्तवेद्य आत्मा से ही उसका काम क्यों नहीं चल सकता ताकि वेदान्त कर्मभाग के ही शेष हो जायें?

ज्ञान-कर्म का साहचर्य असंभव इसलिए है कि आत्मा की सही जानकारी कर्म से विरुद्ध पड़ती है। इसीलिए उपनिषत् कर्मभाग के शेष नहीं हो सकते क्योंकि इनसे समझा आत्मा कर्मकाण्ड के उपयोग का नहीं, बल्कि उसके मिथ्यात्व का पोषक है। उपनिषदें तो यह बताने में तात्पर्य वाली हैं कि आत्मा का स्वरूप ब्रह्म है, वह ब्रह्म जिसमें कोई अतिशय अर्थात् विशेषता या परिच्छेद नहीं। यहीं आयेगा, 'उसे ही तुम ब्रह्म समझो, इसे नहीं जिसकी लोग उपासना करते हैं।'

स्वतंत्र सम्राट् पद पर जिसका अभिषेक हो गया वह क्या किसी के सामने झुकेगा? ऐसे ही परम प्रमाण श्रुति द्वारा जो ब्रह्मरूपता को प्राप्त कराया जा चुका है उसे किसी को नमन आदि करने की इच्छा नहीं होती। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो अपरोक्षरूप से निःसंदेह समझा हुआ है उससे कोई कर्म नहीं कराया जा सकता और न वह ही (अपने देहादि) किसी से कर्म करा सकता है। जिसके समग्र पुरुषार्थ सम्पन्न हो गये, जिसने खुद को परब्रह्म परमात्मा जान लिया उसे कोई प्रवृत्ति—न एक संघात में न किसी संघात में—प्रयोजन वाली नहीं लगती; और बिना प्रयोजन प्रवृत्ति हुआ नहीं करती। अतः कर्म से ज्ञान का विरोध निश्चित ही है। इसलिए कर्मकाण्ड में आत्मयाथार्थ्य नहीं बताया। 'मैं हूँ' आदि सामान्य आत्मानुभव से असंतुष्ट व्यक्ति को जब वास्तविक आत्म-स्वरूप के अनुभव के बारे में उपायजिज्ञासा होती है तब उसे शांत करने के लिए वेदान्त प्रवृत्त होते हैं।

तो क्या कर्म प्रारंभ ही न किया जाये? नहीं, अवश्य करना चाहिए क्योंकि निष्काम होकर करने से वह चित्त को सुधारता है, ज्ञानयोग्य बनाता है।

क्योंकि आत्मा के अज्ञान के क्षेत्र में कर्म है इसलिए शास्त्र को इष्ट है कि आत्मा के सही ज्ञान से कर्म छुड़ा दिया जाये। यदि यह बात ठीक है तो कर्म प्रारंभ ही न करना बेहतर है, कीचड़ लगाकर पैर धोने की अपेक्षा कीचड़ से दूर ही रहना अच्छा है। कर्म का फल थोड़ा-सा और कर्म करने में श्रम बहुत अधिक जब कि कल्याण-प्राप्ति होनी है आत्मतत्त्व समझने से, ऐसे में कर्म करें ही क्यों?

यह ठीक है कि कर्म अविद्याक्षेत्र में है। यह भी ठीक है कि कर्म में यह दोष है कि यह थोड़ा-सा (परिच्छिन्न) ही फल देता है, और स्वयं एवं अपने फल से वह बाँधने की ही कोशिश करता है। किन्तु कर्म अल्प-फल देकर बाँध ले यह उसी के लिए संभव है जो इहलोक या परलोक की कामना वाला है क्योंकि वेद ने कहा है 'जो काम्य फल चाहता है वह तत्तद् योनि में कर्मफल



भोगने को पैदा होता है', 'कर्मानुसार जाना-आना वह उसी का होता है जो कामनाओं वाला है' इत्यादि। जिसे सांसारिक कामनायें नहीं उसके लिए कर्म बन्धन-हेतु नहीं होता। उसके लिए तो कर्म चित्तशुद्धि के हेतु बनते हैं। कर्मों सहित जो कर्म-सम्पादक प्राण की (सूत्रात्मा की) उपासनायें हैं वे भी चित्त को सुधारने वाली बन जाती हैं। अतः भोगों के लिये नहीं, आत्मा को जानने के लिये कर्म करने चाहिये।

शतपथब्राह्मण में प्रश्न उठाया कि फलकामना से जो देवताओं की पूजा करता है वह बेहतर है या जो अपने चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करता है वह बेहतर है? उत्तर दिया कि अपनी चित्तशुद्धि के लिए करने वाला बेहतर है। वह यह समझते हुए करता है कि 'इस कर्म में मैं अपने इस अङ्ग को शुद्ध कर रहा हूँ।' भोगेच्छा से वह नहीं करता। अतः वेद बता रहा है कि वस्तुतः तो कर्म चित्तशुद्धि के लिए ही हैं।

मनु महाराज ने भी कहा है कि पाँचों महायज्ञों से एवं अन्य यज्ञों से यह शरीर—अर्थात् शरीराभिमानी जीव का चित्त—ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाया जाता है। भगवान् का भी कथन है—यज्ञ, दान और तप मनीषियों की पवित्रता के हेतु हैं। अतः कर्म चित्तशुद्धि करते हैं यह बात प्रामाणिक है।

प्राणादि उपासना कर्म के बिना की जाये या कर्म के साथ, दोनों हालतों में भोगेच्छुक को तो उससे प्राणादि का सायुज्यादि ही मिलेगा किन्तु जो भोगेच्छुक नहीं उसके लिए वे उपासनायें आत्मज्ञान की रुकावटें हटायेंगी। 'काँच साफ करने के लिए उस पर चूना डालना पड़ता है' यह जो न्याय कर्म के लिए कहा था, वही उपासना के लिए भी समझना चाहिये।

श्रुति में ही बताया गया है कि संन्यास के विधान में कारण क्या है; श्रुति ने कहा है' जिन हम लोगों का यह आत्मा ही लोक है, ऐसे हम लोग प्रजा से क्या करेंगे?'

श्रुति में जो यह हेतु बताया कि 'क्योंकि आत्मा ही हमारा लोक है इसलिये हमें प्रजा से क्या?'—उसका तात्पर्य है : प्रजा मनुष्यलोक की उन्नति का साधन है। कर्म पितृलोक की और कर्म समेत उपासना देवलोक की प्राप्ति का साधन है। अनात्मभूत विषयात्मक लोकों की प्राप्ति के ही ये उपाय हैं। साधनों से मिलने वाले अतएव अनित्य इन तीनों लोकों को हम चाहते नहीं क्योंकि हमें केवल नित्य 'लोक' की अभिलाषा है जो स्वाभाविक है अर्थात् हमसे अलग नहीं है कि 'मिले'; उसका उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं; उसमें बुढ़ापा और मौत नहीं है; कोई दूसरा नहीं कि वहाँ किसी तरह का डर हो; कर्म से वह न बढ़ता है न घटता है। ऐसा ही लोक चाहने वाले को प्रजादि साधनों से क्या मतलब? वह मोक्षरूप आत्मलोक नित्य है। अतः अज्ञान हटने से अतिरिक्त कोई उपाय नहीं जिससे वह सिद्ध हो।

इसलिये प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता के अनुभवपूर्वक सब एषणाओं का संन्यास ही करने योग्य है, कर्म नहीं। यह विरुद्ध बात है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का अनुभव और कर्म साथ रहें। क्रिया के कारणों का परस्पर भेद, क्रिया से उनका भेद, क्रियाफलों का परस्पर भेद, कारणों से फलों का भेद तथा क्रिया से फलों का भेद इन भेदों के अनुभव को ग्रहण कर—पकड़ कर, अर्थात् ये वास्तविक हैं ऐसा निश्चय रखकर—किया जा सकता है कर्म। प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता के बारे में निःसन्दिग्ध अपरोक्ष जानकारी होने पर सारा ही भेद-दर्शन छूट जाता है, पकड़कर नहीं रखा जा सकता, कोई भी भेद वास्तविक है यह निश्चय बना रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति में ज्ञान व कर्म का साथ-साथ होना कैसे संगत है।

ब्रह्मानुभव में विद्यमान वस्तु की प्रधानता है, पुरुष क्या करता था नहीं करता इस पर वह अनुभव निर्भर नहीं करता। अतः इस अनुभव का करने के क्षेत्र वाले कर्म से साहचर्य संगत नहीं।

जिसे आत्मज्ञान हो गया, वह कर्मारंभ नहीं करता क्योंकि उसके लिये



वह निरर्थक है, प्रयोजनहीन है। शास्त्र ने भी उसे अधिकारी मानकर कर्मविधान किया नहीं है। बल्कि वह तो कहता है—'कर्म से जन्मधारियों को बन्धन ही मिलता है, छूटते तो विद्या द्वारा हैं। इसलिये जिन्होंने संसार सागर का परला किनारा पा लिया वे यति लोग कर्म नहीं करते।' यह तो व्यास जी का वचन है। स्वयं वेद ही बताता है 'क्रिया का मार्ग और संन्यास, दोनों सामने हैं। इनमें संन्यास ही अतिरिक्त विशेषता वाला है, क्रिया पथ को लांघकर जाने वाला संन्यास ही है।' कैवल्य शाखा की उपनिषत् कहती है कि कर्म, प्रजा या धन से नहीं बल्कि त्याग से ही कुछ ने अमरता पायी है। ऋग्वेद ने भी कहा है कि 'ज्ञान से अन्य कोई रास्ता नहीं है जिससे संसार से पार जाया जा सके।' अतः ज्ञान का कर्म से साहचर्य असंभव होने से समुच्चय को स्थान नहीं है।

युक्तिसंगत भी यही है कि ज्ञान होने पर कर्म छूट जायें। ज्ञान की प्राप्ति में कर्म उपाय बनते हैं क्योंकि कर्म मन में वह अपेक्षित सुधार लाते हैं जिससे मन शास्त्र से आत्मा का सही स्वरूप समझ पाता है। अमृतता की प्राप्ति तो ज्ञान से होती है। यहीं कहेंगे कि सारे ज्ञानों के साक्षी की ठीक समझ हो जाये तो अपने से अभिन्नकर अमृतता मिल जाती है। विद्या से अमृत-पद प्राप्त होता है यह मनुवचन भी है। जो नदी के दूसरे किनारे आना चाहता है वह नाव पर बैठकर उस तट तक जाता है। आगे उस पार वाले चाहे जिस स्थान जाने के लिए स्वतंत्र हो और फिर भी नाव पर बैठा रहे, ऐसा नहीं होता। इसी तरह चित्तशुद्धि से ज्ञान पाकर सर्वकर्तव्यताहानि की स्थिति पाने के लिये कर्म आरम्भ किये थे। चित्त शुद्ध होने के बाद क्या उन कर्मों को ही पकड़े रहना ठीक है? और फिर शुद्धि का भी फलभूत ज्ञान सिद्ध हो जाने के बाद क्या लौटकर कर्म करना संभव है? अतः मुमुक्षु व मुक्त दोनों का संन्यास ही संगत है जिससे समुच्चयपक्ष किसी भी तरह बनता नहीं।

(१) स्वभाव से ही चीज़ सिद्ध हो, विद्यमान हो, उसके बारे में कोई नहीं

चाहता कि साधनों से उसे सिद्ध करें, सत्ता में लायें। मोक्षरूप आत्मा तो स्वभावसिद्ध है ही। उसे क्रिया द्वारा सिद्ध कौन करना चाहेगा?

(२) जो चीज हमें मिली हुई न हो, उसे पाने के लिये क्रिया करें यह ठीक है। मोक्ष तो हमारा आत्मा है अतः हमें हमेशा मिला ही हुआ है। उसे पाने की इच्छा संभव नहीं कि उसके लिये कोई क्रिया की जाये।

(३) क्रिया से बिगाड़ भी किया जा सकता है किन्तु मोक्ष तो हम खुद हैं तो बिगाड़ कौन करना चाहेगा? नित्य, अविकारी, अविषय और अमूर्त(अवयवहीन-व्यापक) होने से इसका बिगाड़ करना संभव भी नहीं है। श्रुति से भी निश्चित होता है कि कर्म से आत्मा को बढ़ा-घटा नहीं सकते अर्थात् उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। भगवान् ने भी आत्मा को अविकार्य कहा, उसे बिगाड़ा नहीं जा सकता। अथवा विकार मतलब कार्य, जैसे दूध का विकार दही है या सोमलता का विकार सोमरस है। मोक्ष आत्मा है न कि कोई कार्य अतः वह क्रिया का विकाररूप फल न होने से उसके लिये क्रिया सार्थक नहीं।

(४) क्रिया से किसी चीज को सुधारा जा सकता है लेकिन आत्मा तो शुद्ध है, सहज या आगन्तुक किसी दोष वाला नहीं कि इसे सुधारना पड़े। किंच एक पदार्थ से किसी क्रिया द्वारा दूसरे पदार्थ को सुधार सकते हैं। आत्मा तो सबसे अनन्य है, अभिन्न है। उससे न कोई पदार्थ अन्य है, न क्रिया, खुद से खुद के द्वारा खुद का सुधार कैसे चाहा जाये? अतः इस फल के लिये भी क्रिया नहीं चाहिये। एक वस्तु का दूसरी में आधान नित्य नहीं होता और न किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नित्य होती है जब कि मोक्ष को नित्य माना जाता है। इसलिये मोक्ष के लिये कर्म अनावश्यक है जिससे समुच्चय व्यर्थ है। जिसे ज्ञान हो गया वह फिर कर्म करना जारी रखे यह संगत भी नहीं है कि ज्ञान-कर्म समुच्चय घट सके।



इसलिये जो दृष्ट एवं अदृष्ट, ऐहिक व पारलौकिक साधनों व साध्यों से विरक्त है उसे प्रत्यगात्मा के बारे में जो जिज्ञासा होती है वह 'केनेषितम्' आदि ग्रंथभाग द्वारा दिखायी जा रही है। अतः जिसकी बुद्धि बाह्य अर्थात् अनात्मविषयों से विमुख है उसे आत्मसाक्षात्कार हो इसके लिये केनोपनिषत् का आरम्भ किया गया है।

सूक्ष्म वस्तु के बारे में समझना सरल हो जाता है यदि वक्तव्य को प्रश्न-उत्तर के ढंग से रखें, यह मानकर श्रुति ने शिष्य के प्रश्न और आचार्य के उत्तर यों संवाद के रूप में यहाँ आत्मविद्या बतायी है। गुरु से पूछना पड़ा—यह दिखाकर इस बात का भी पता चल जाता है कि केवल तर्क से यह तत्त्व नहीं समझा जा सकता। वेद ने ही कहा है कि आत्ममति तर्क से न पायी जा सकती है, न हटायी जा सकती है। साथ ही इस संवाद से यह भी प्रदर्शित होता है कि गुरु से मिले तभी यह ज्ञान सुस्थिर होता है। श्रुति ने कहा ही है कि 'श्रेष्ठ आचार्य का शिष्य तत्त्व समझता है' तथा 'आचार्य से समझी विद्या ही सर्वाधिक शुभ फल प्राप्त कराती है।' भगवान् ने भी विद्यालाभ के उपाय में दीर्घनमस्कार, परिप्रश्न आदि गिनाये हैं। ये सब बातें इस संवादशैली से सूचित होती हैं।

**ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यांमा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।**

मेरी वाणी, चक्षु, कान तथा अन्य भी इन्द्रियाँ, मेरे सभी अंग और मेरा बल ये सभी बढें, पुष्ट हों। सभी कुछ उपनिषत्सिद्ध ब्रह्म है। मुझे कभी उस ब्रह्म में नास्तिक बुद्धि न हो। परमात्मा मुझे पुरुषार्थ से न डिगाये। न मैं ब्रह्म को अपने से या किसी से दूर करूँ और न वही मुझे दूर करे। आत्मलाभ के लिए प्रयत्नशील मुझमें वे धर्म प्रतिष्ठित हों जिन्हें उपनिषदें तत्त्वनिष्ठा के लिए आवश्यक बताती हैं। त्रिविध ताप शान्त हों।

## प्रथम खण्ड

### प्रथम मन्त्र

उपनिषत् के संवाद के कारण यह कल्पना की जाती है कि अभय, नित्य, अचल, शिव की इच्छा वाले किसी अधिकारी ने जब यह समझ लिया कि प्रत्यगात्मा की सीमाओं से बहार कोई नहीं जिसका सहारा इस शिव की प्राप्ति कराये, तब वह उपहार आदि लेकर श्रद्धापूर्वक किसी शास्त्रज्ञ तथा परमात्मा के अनुभवी गुरु के पास गया और 'केनेषितम्' आदि शब्दों में उनसे प्रश्न किया—

**ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।**
**केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।**

ॐ। **केन** = किसके द्वारा, **इषितम्** =इषित (इच्छा-विषय हुआ), **प्रेषितम्** = प्रेषित (भेजा हुआ), **मनः** = अन्तःकरण, **पतति** = (अपने विषयों



की ओर) जाता है? **प्रथमः** = मुख्य, **प्राणः** =प्राण (पाँच वृत्तियों में बँटी आध्यात्मिक वायु अर्थात् क्रियाशक्ति) **केन** = किससे, **युक्तः** = नियुक्त हुआ **प्रैति** =चलता है ? **केन** = किससे **इषिताम्** = इषित (प्रेरित) हुई, **इमाम्** = इस **वाचम्** = शब्दस्वरूप वाणी को **वदन्ति** =लोग बोला करते हैं ? **कः उ** = सारे व्यवहारों का कारणभूत वह कौन **देवः** = देव है जो **चक्षुः श्रोत्रम्** = आँख व कान को **युनक्ति** = अपने-अपने काम पर लगाता है ?

किस कर्ता द्वारा 'इषित' अर्थात् इष्ट या अभिप्राय-अनुसारी बनाया हुआ मन अपने विषय के प्रति जाता है ?—यह शिष्य का प्रथम प्रश्न है।

दिवादि गण में गत्यर्थक इष धातु है। क्र्यादिगण में आभीक्ष्ण्य अर्थात् पुनः पुनः करना या अधिक करना अर्थ में इष धातु है। इनका क्त-प्रत्ययान्त रूप 'इषित' बनता है (दोनों सेट हैं) किन्तु दोनों में ही वाक्यार्थ ठीक नहीं हो पाता। न तो यहाँ 'गया हुआ' यह अर्थ है और न 'बारम्बार हुआ' यह अर्थ है। यहाँ तो मन का प्रवर्तक कौन—यह पूछा जा रहा है। अतः तुदादिगण के इच्छार्थक इष धातु का ही 'इषित' शब्द क्तान्त रूप मानना चाहिये। इष्ट की जगह इट्-प्रयोग कर इषित रूप बनाना वेद की स्वतंत्रता है। उसी शब्द में प्र-उपसर्ग लगने से 'प्रेषित' शब्द बना जिसका मतलब है नियुक्त, प्रेरित।

प्रश्न में यदि केवल 'प्रेषित' शब्द ही कहा होता तो गुरु के मन में यह जिज्ञासा बनी रहती कि यह किस प्रकार के प्रेषयिता अर्थात् नियोजक को पूछ रहा है और कैसे प्रेषण अर्थात् नियोग को मानकर पूछ रहा है। जब 'इषित' यह मन का विशेषण दे दिया तब ये दोनों संदेह समाप्त हो गये क्योंकि यह विशेष अर्थ निकल आया कि 'कौन है जिसकी केवल इच्छा से मन नियुक्त है, प्रेरित है?'

यदि जैसा आपने व्याख्यान किया ऐसा अर्थ शिष्य को विवक्षित होता तो 'किसके द्वारा इषित' इतना ही कहना पर्याप्त था क्योंकि इषित अर्थात्

इच्छा से प्रेरित। अतः प्रेषित कहना व्यर्थ ही हो गया।

शब्द अधिक हों तो अर्थ में भी अधिकता होना संगत है। अतः यहाँ इषित व प्रेषित दो शब्द होने से यह अर्थ समझना चाहिये : 'इषित अर्थात् किसकी इच्छा से और प्रेषित अर्थात् किसके प्रयत्न या कथन से मन प्रेरित है?' शिष्यप्रश्न की यह व्याख्या करनी चाहिये।

यह व्याख्या ठीक नहीं यह इसी से मालूम चल जाता है कि शिष्य ने प्रश्न उठाया। कर्म के फलभूत अनित्य देह-इन्द्रियादि समुदाय से वैराग्यवान् शिष्य पूछ रहा है तो निश्चय ही वह देहादि से भिन्न कूटस्थ नित्य वस्तु को ही जानना चाहता है।

प्रवृत्ति रूप चिन्ह से सामान्यतः जानकर विशेष ज्ञान के लिए प्रश्न किया है जो समुचित है क्योंकि प्रायः प्रश्न इसी तरह किये जाते हैं। रथ आदि जड वस्तुओं की प्रवृत्ति तभी देखी गयी है जब कोई चेतन उनका नियन्त्रण कर रहा हो। किसी भी चेतन से अनियंत्रित रथादि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। अचेतन मनआदि की प्रवृत्ति अनुभव में आती है, यह इस तथ्य को सूचित करता है कि उनका नियन्त्रण करने वाला कोई चेतनावान् है। मन आदि करण हैं, जानने या करने के साधन है, अतः खुद तो वैसे ही चेतन नहीं हैं जैसे देखने का साधनभूत दीपक। इस प्रकार जड मन आदि करण जो नियमित प्रवृत्ति करते हैं वह चेतन नियन्ता के बिना संगत नहीं।

प्रवृत्तिरूप चिन्ह से निश्चित तो हो जाता है कि कोई है जो जड नहीं है लेकिन उसका ख़ास स्वरूप क्या है—यह निश्चित नहीं हो पाता। इसलिये यह उचित व्याख्या है कि शिष्य ने सामान्यतः जडभिन्नरूप से चेतन को समझकर उसके असामान्य स्वरूप को जानने के लिये प्रश्न किया है।

अतः अभिप्राय है; 'केनेषितम्' किसके द्वारा इष्ट अर्थात् किसकी इच्छामात्र से मन अपने कार्यक्षेत्र में बँधा हुआ प्रवृत्त होता है ?



शिष्य का ऐसा गंभीर तात्पर्य न माने तो प्रश्न करना निष्प्रयोजन हो जायेगा क्योंकि चाहकर, कहकर या इशारे आदि से प्रेरणा करने वाला तो देहादिसंघात प्रसिद्ध ही है, उसे जानने के लिये गुरु से पूछना बेकार है।

ऐसी व्याख्या से भी यह कैसे प्रकट हुआ कि प्रेषित शब्द का क्या तात्पर्य है ?

ऐसा नहीं कि तात्पर्य प्रकट नहीं हुआ, फिर भी उसे और स्पष्ट कर देते हैं : यह प्रश्न वह कर रहा है जिसे संशय है अतः प्रेषित शब्द का प्रयोजन होना संगत है।

प्रेषित से यह कहा कि क्या जैसा प्रसिद्ध है वैसा देह-इन्द्रिय-मनआदि का संघात ही प्रेषयिता—प्रेरणा करने वाला है ? और इषित से कहा—या संघात से भिन्न ही कोई स्वतंत्र है जो इच्छामात्र से—संनिधिमात्र से—मनआदि का प्रेषयिता है ? यह संशय पता चल जाये इसके लिये शिष्य ने दोनों विशेषण रखे हैं।

प्रसिद्ध तो यह है कि मन स्वतंत्र है, खुद ही अपने विषयों पर 'गिरता' रहता है, तब शिष्य का यह प्रश्न कैसे संगत है कि मन किसके इशारे पर बँधा हुआ चेष्टा करता है?

बताते हैं कि प्रश्न कैसे संगत है : प्रवृत्त होने और हटने में यदि मन स्वतंत्र होता तो सभी लोग कभी न कभी जो अपने ही अनिष्ट का चिंतन करते हैं, वह न करते। जानते हुए कि यह अनर्थ है, मन संकल्प करता रहता है। विषय तो दूर, जिस संकल्प को उठाते समय दुःख और उसके संस्कार से आगे भी दुःख होना निश्चित पता है, अनुभूत है, उस संकल्प को भी मन उठाता रहता है। जुआ आदि तुरंत अतितीव्र दुःख देने वाले कार्यों में वह प्रवृत्ति करता है, चाहे जितना उसे रोकने की कोशिश करो। इसलिये यह प्रश्न बिल्कुल उचित है कि कौन इसे प्रेरित करता है।

जिससे मनन-चिन्तन किया जाता है, जो आत्मा के स्वरूपानुभव से अतिरिक्त प्रायः सभी अनुभवों में निमित्त बनता है उस अंतःकरण को यहाँ मन कहा, केवल वृत्तिविशेष को ही नहीं। वह मन मानो प्रेषित होता है--इस प्रकार यहाँ प्रेषित होने वाले शिष्यादि को दृष्टान्त बनाकर कहा है यह समझना चाहिये। इषित-प्रेषित शब्दों का अर्थ तो मन के प्रसंग में बैठेगा नहीं क्योंकि जैसे गुरु चाहकर या कहकर या अन्य चेष्टा से शिष्यादि को प्रवृत्त करता है ऐसे तो आत्मा मन आदि को विषयों की ओर भेजता या प्रवृत्त करता नहीं कि 'जाओ विषय ग्रहण करो।' वह तो अपने विविक्त नित्य चित्स्वरूप से मन आदि की प्रवृत्ति में केवल निमित्त है। जैसे नित्यचिकित्सा में अधिष्ठाता निमित्त बनता है ऐसे आत्मा निमित्त बनता है।

अगला प्रश्न है : प्रथम प्राण किससे नियुक्त हुआ, प्रेरणा पाकर अपने कार्य करता है। सभी इन्द्रियों के व्यापार तभी हो सकते हैं जब पहले प्राण सचेष्ट हो, इसी से उसे 'प्रथम' कहा। जो प्रमुखतः नासिका में चलता रहता है उसे प्राण कहा, उपास्य सूत्रात्मा को नहीं, क्योंकि तभी प्रकरण अनुकूल रहता है।

उसकी प्रथमता इसलिये है कि सभी इन्द्रियों का 'चलना' तथा शरीर का भी सक्रिय होना प्राण के कारण ही है, वही क्रियाशक्ति है। करणों की स्वतः प्रवृत्ति तो विषय का अवभास ही है, मन आदि की चलनक्रिया तो प्राण की ही है। अतः प्राण प्रथम कहा।

वह प्राण किससे प्रयुक्त हुआ, प्रेरित हुआ खुद कार्य करता है व दूसरों के कार्य करने में हेतु बनता है?--यह प्रश्न है।

लौकिक लोग जो यह शब्दलक्षण वाली बोली बोलते हैं यह किससे इषित है, किसकी इच्छा से नियन्त्रित हुई बोली जाती है?

वह कौन प्रकाशमान देव है जो चक्षु और श्रोत्र को अपने-अपने विषय



की ओर प्रेरित करता है ?

तात्पर्य है कि वाणी जो बोलने का काम करती है इसमें कौन निमित्त बंनता है, प्राणियों के चक्षु और श्रोत्र का प्रयोजक देव कौन है, अर्थात् जो चेतनावाला तत्त्व करणों का अधिष्ठाता है, निर्विकार रहते हुए भी प्रवृत्ति में निमित्त है, उसे बाकी सब चीजों से अलग कर कैसे समझें ? ।।१।।

## द्वितीय मन्त्र

इस प्रकार जिसने पूछा उस योग्य शिष्य को गुरु ने कहा--

**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।२।।**

जिसके बारे में तुमने पूछा है, **सः** = वह, **यत्** = क्योंकि, **ह** =निश्चय ही, **श्रोत्रस्य** =श्रोत्रेन्द्रिय का **श्रोत्रं** =श्रोत्र है (इन्द्रिय के श्रोत्रत्व का निमित्त है), **मनसः** = मन का **मनः** = मन है, **वाचः** =वागिन्द्रिय का **वाचम्** =वाक् है, और **उ** = वही **प्राणस्य** = प्राण का **प्राणः** =प्राण है, **चक्षुषः** = चक्षुरिन्द्रिय का **चक्षुः** =चक्षु है; इसलिये **धीराः** =बुद्धिमान् लोग उसे जानते हैं और उस ज्ञान से **अतिमुच्य** = श्रोत्रादि इन्द्रियों से तादात्म्य छोड़कर **अस्मात्** =इस **लोकात्** = मैं-मेरा व्यवहार रूप लोक से **प्रेत्य** =हटकर **अमृताः** = मरणरहित **भवन्ति** = हो जाते हैं।

जिसे तुम पूछ रहे हो उसे मनआदि के प्रेरक को बताते हैं सुनो : तुमने यही पूछा था कि मन आदि करणसमूह को अपने विषय की ओर प्रेरित करने वाला कौन देव है और किस ढंग से प्रेरित करता है। चक्षु व श्रोत्र को कौन नियुक्त करता है ?--यों जिसे पूछा था वह श्रोत्र का श्रोत्र है। जिससे सुना जाता है, शब्द सुनने में जो असाधारण साधन है, जिसके द्वारा शब्द हमारे प्रति प्रकाशित होता है वह इन्द्रिय श्रोत्र कही जाती है। उस श्रोत्र का भी

जो श्रोत्र है वही श्रोत्रादि को प्रेषित करने वाला है।

शिष्य के प्रश्न का उत्तर ऐसे देना चाहिये था : इन विशेषताओं वाला वह अमुक है जो श्रोत्रादि को नियुक्त, प्रेरित करता है। इसकी जगह 'श्रोत्र का श्रोत्र' यह कहना सवाल के अनुरूप नहीं है।

उत्तर उचित ही है, अनुरूप न हो ऐसा नहीं। अन्य किसी ढंग से उस प्रेरक का ऐसा ज्ञान हो सके जो अभी नहीं है, यह संभव नहीं।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि जवाब यह समझाने के लिये है कि निर्विशेष आत्मा श्रोत्रादि के प्रेरित होने में निमित्त है। परिवर्तन आदि किसी खासियत वाला जो नहीं उसी आत्मा में मन आदि की प्रवृत्ति के प्रति निमित्तता समझनी चाहिये।—यह गुरुवचन का तात्पर्य है।

कोई पूछे 'दराँती कौन चला रहा है'? तो हम कह सकते हैं 'जो अभी यहाँ से गया था, जो सामने खड़ा है, साँवले रंग का है, तुम्हारे दोस्त का बाप है, वह वैश्य दराँती चला रहा है।' दराँती चलाने से अन्य उसमें क्रिया, गुण आदि हैं अतः उनके सहारे हम उसे समझा सकते हैं। किन्तु श्रोत्रादि का जो नियोक्ता, प्रेरक है, श्रोत्रादि के व्यापारों से अन्य उसके निजी कोई व्यापारादि हैं नहीं कि उनसे उसे बता सकें। अगर ऐसे व्यापार होते और गुरु ने न बताये होते तो कह सकते थे कि जवाब ठीक नहीं। जब आत्मा ऐसे किसी व्यापारादि वाला नहीं है तो उसे श्रोत्रादि के ही व्यापार से बताना उचित ही है।

संहत अर्थात परस्पर ताल-मेल बैठाकर काम करने वाले जो श्रोत्रादि हैं उनके व्यापार से आत्मा का पता चलता है। व्यापार; जैसे आँख का व्यापार देखना, मन का व्यापार या वृत्ति संकल्प करना, बुद्धि का व्यापार निश्चय करना। इनसे आत्मा का पता चलता है। ये व्यापार 'फलावसानलिंग' हैं।

संहत नियमतः परार्थ—किसी अन्य के लिये हुआ करते हैं। श्रोत्रादि का समुदाय जिसके प्रयोजन को पूरा करने के लिये प्रेरित हुआ व्यापार करता



है वह ज़रूर श्रोत्रादि से असंहत है। दीवाल, दरवाजे, छत आदि का संघात होने से घर अपने से भिन्न किसी देवदत्तादि के लिए हुआ करता है जो उस घर के बनने या बने रहने में निमित होता है। ऐसे ही श्रोत्रादि की प्रवृत्ति का निमित्त इनसे भिन्न है यह निश्चित हो जाता है।

अतः विवक्षित विषय के अनुरूप ही जवाब है 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि।

'श्रोत्र का श्रोत्र' इस उत्तर में शब्दों का विवक्षित अर्थ क्या है? यह तो नहीं हो सकता कि कान का कोई दूसरा कान कहा जा रहा हो! जैसे रोशनी को अन्य रोशनी से कोई प्रयोजन नहीं ऐसे कान को अन्य कान से कोई प्रयोजन नहीं।

करण को करणान्तर-सापेक्ष बताना रूप दोष इस श्रौत उत्तर में नहीं है, उत्तर के शब्दों का यह अभिप्राय है : यह देखा गया है कि श्रोत्र अपने विषय को व्यक्त करने में समर्थ है। उसका यह सामर्थ्य तभी संभव है जब चेतन, स्वप्रकाश, अविनाशी, असंहत और सबमें रहने वाला आत्मा हो। यदि ऐसा आत्मा न होता तो श्रोत्र का वैसा सामर्थ्य भी हो नहीं सकता था। इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इस प्रकार दूसरे श्रोत्र शब्द से आत्मा कहा गया है, करणान्तर नहीं।

अनुगम से भी वही तात्पर्य सिद्ध होता है क्योंकि इस प्रतिवचन में आये शब्द विवक्षित अर्थ बताने के निमित्त से निर्विशेष आत्मा रूप अर्थ से अनुगत अर्थात् सम्बद्ध हैं। कैसे ? इस प्रकार हैं—

जिससे सुनते हैं वह श्रोत्र है, कान-इन्द्रिय है। श्रोत्र शब्द का प्रकाश करता है। शब्द का प्रकाश करना—यह जो उसका सामर्थ्य है वह श्रोत्रत्व है। यह जिसके अधीन है वह श्रोत्र का श्रोत्र है, आत्मा है। शब्द का प्रकाश करना—इससे निर्विशेष आत्मा को समझना है।

शब्द की उपलब्धि, साक्षात्कार, ही शब्द का प्रकाश है अतः जिसे शब्द

की उपलब्धि है वह उपलब्धा ही शब्दप्रकाश करने वाला है। श्रोत्र खुद जड है अतः उपलब्धा नहीं हो सकता। इसलिये कारणरूप से भले ही वह प्रकाश करने वाला हो, उपलब्धा रूप से प्रकाश करने वाला नहीं है। चिन्मय आत्मा ही वैसा हो सकता है। श्रोत्र उपलब्धारूप से जो शब्दप्रकाश करता है वह आत्मा के निमित्त से ही कर पाता है अतः आत्मा को श्रोत्र का श्रोत्र कहकर उपलक्षित किया है। उदाहरणार्थ—क्षत्रियजाति का नियामक जो धर्म है उसे वेद ने 'क्षत्र का क्षत्र' कहा है। अथवा जल की गर्मी आग के निमित्त से होती है इसलिये जहाँ पानी किसी को जला देता है वहाँ कह दिया जाता है कि 'जलाने वाले का जलाने वाला आग है।' जैसे आग से संयुक्त होने के कारण जल को भी आग कह देते हैं (या गर्म कह देते है) वैसे उपलब्धा से सम्बद्ध (तादात्म्यापन्न) होने के कारण श्रोत्रादि को उपलब्धा समझ लिया जाता है।

जिनके सम्बन्ध से प्रमाता में बुद्धिवृत्तियों द्वारा अनित्य उपलब्धृता (उपलब्धा-पन या उपलब्धि) होती है, वे श्रोत्रादि बुद्धिवृत्तियों के लिये अपेक्षित होने से अनित्य उपलब्धृता के कारण बन जाते हैं। जैसे गर्म जल में दग्धृत्व (जलानेवाला-पन) है वह अनित्य है अतः उसके लिये साधन चाहिये, ऐसे ही प्रमाता का उपलब्धृत्व कारणसापेक्ष हो यह उचित है।

नित्य उष्णता वाली आग को भी 'जलाने वाला' कहते हैं, ऐसे ही जहाँ नित्य उपलब्धृता है उस आत्मा को भी नित्य-उपलब्धिस्वरूप होने से उपलब्धा कहते हैं।

श्रोत्रादि निमित्तों से प्रमाता में जो श्रोतृत्वादि अर्थात् उपलब्धृत्व मिलता है वह अनित्य है और आत्मा का 'उपलब्धृत्व' नित्य है इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि जवाब में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य इसी में संगत होता है कि सब विशेषों से रहित उपलब्धिस्वरूप आत्मा में मन आदि की प्रवृत्ति के प्रति निमित्तता समझी जाती है।



जैसे यह बात सिद्ध होती है वैसा अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं: 'आदित्य, अग्नि आदि प्रकाश नहीं रहते तो आत्मा ही इसका प्रकाश है, आत्मप्रकाश से ही यह रहता है!—यह बृहदारण्यक में बताया।

'उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है' यह आथर्वण वाक्य है। तैत्तिरीय का मन्त्र कहता है 'जिस चैतन्य ज्योति से दीप्त हुआ सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है उस बृहद् आत्मा को वह नहीं जान सकता जो वेद का जानकार नहीं है। इसी तरह भगवान् ने भी बताया कि 'आदित्य में पहुँचा हुआ जो तेज अखिल जगत् को प्रकाशित करता है उसे मेरा ही तेज जानो।'

'जैसे सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है ऐसे अहंकार, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सारे क्षेत्र को क्षेत्र-वाला अर्थात् आत्मा प्रकाशित करता है' यह भगवान् का वचन प्रकृत केन श्रुति का स्पष्ट अनुवादक है। कठ में भी आत्मा को 'चेतनों का चेतन' कहा जो 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि की तरह ही समझाने का ढंग है। प्रायः सभी लोग श्रोत्रादि को ही आत्मा या चेतन समझते हैं, वह नासमझी हटाने के लिये यह 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि जवाब है। सब के भीतर से भी भीतर, अपरिवर्तनीय, पुराना न पड़ने वाला, समाप्त न होने वाला, द्वितीय के निमित्त से होने वाली किसी प्रतिक्रिया से रहित, कार्य-कारणभाव से वर्जित, श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि अर्थात् श्रोत्रादि के सामर्थ्य का निमित्त, जानकारी वाली बुद्धि के साक्षिरूप से ही समझ आ सकने वाला कुछ है—यह जवाब यहाँ दिया, यही मानना युक्तिसंगत भी है और जवाब में आये शब्दों के अर्थविचार से भी उचित निश्चित होता है।

जैसे 'श्रोत्र का श्रोत्र' इसका अर्थ बताया वैसे ही 'मन का मन' आदि का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। चेतन प्रकाश से प्रकाशित हुए बिना अंतःकरण अपने विषय में अर्थात् संकल्प, निश्चय आदि में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये चेतन मन का भी मन है। यहाँ बुद्धि और मन को मिलाकर

एक मन शब्द से ही कह दिया है।

'क्योंकि वाक् का (वागिन्द्रिय का) वाक् है'; यहाँ आया 'क्योंकि' —शब्द सर्वत्र सम्बद्ध है : क्योंकि श्रोत्र का श्रोत्र है, क्योंकि मन का मन है इत्यादि।

श्रुति ने 'वाचो ह वाचम्' कहा, यहाँ दूसरा वाक्-शब्द द्वितीया विभक्ति में है अर्थात् 'वाणी की वाणी को' यह कहा है। किन्तु इस द्वितीया विभक्ति को प्रथमा में बदल लेना चाहिये क्योंकि 'प्राण का प्राण' आदि में प्रेरक को प्रथमा से बताया है।

'प्राणः' इस प्रथमान्त के अनुरोध से 'वाचम्' को बदलने की अपेक्षा 'वाचम्' के कारण 'प्राणः' को ही क्यों न बदलकर द्वितीयान्त बना दें?

ऐसा करना ठीक नहीं होगा। अनेकों का अनुरोध मानकर एक को बदलना उचित है, एक के अनुरोध से अनेकों को बदलना उचित नहीं। 'सः' और 'प्राण' दो शब्द प्रथमान्त हैं जब कि 'वाचम्' एक ही शब्द द्वितीयान्त है। अतः वही बदलना उचित है। इतना ही नहीं, जिसे पूछा जाये उसे प्रथमान्त से बताना ही संगत होता है इसलिये भी 'वाचम्' को बदल लेना चाहिये।

श्रुति ने 'वाचम्' तथा 'प्राणः' यों दो विभक्तियों के प्रयोग से बता दिया कि श्रोत्रम्, मनः, वाचम्, प्राणः, चक्षुः —इन सभी स्थलों में दोनों विभक्तियाँ समझ लेनी चाहिये। पूछी गयी चीज़ बताने के लिये प्रथमा से कहना ठीक होता है। किन्तु 'ज्ञात्वा' से कहना है कि 'उसे जानो' अतः उसे ज्ञान का कर्म बताने के लिये द्वितीया से कहना पड़ता है। अतः उक्त सभी स्थलों में दोनों को समझना पड़ेगा।

जिस प्राणनियोक्ता को तुमने पूछा है वह यही आत्मा है। प्राण नाम की वृत्ति का यही प्राण है अर्थात् इसी से प्राण का प्राणनसामर्थ्य है।

चेतन से प्रेरित हुए बिना (या चेतन का अभेदाध्यास पाये बिना) प्राण अपने व्यापार करे यह संगत नहीं है। श्रुति में कहा ही है कि 'यदि आनन्दरूप



प्रकाशमान आत्मा न होता तो श्वास-प्रश्वास कौन लेता ? प्राण को हृदय से ऊपर और अपान को नीचे ले जाने वाला हृदय कमल में बैठा है।' यहाँ भी कहेंगे कि 'जिससे प्राण अपने विषय को प्राप्त कराया जाता है वह ब्रह्म है।' अतः प्राण का प्राण भी वही निर्विशेष है जिसे श्रोत्र का श्रोत्रादि कहा।

श्रोत्रादि इन्द्रियों के प्रसंग में आये 'प्राण' शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ही ग्रहण करना चाहिये, पंचवृत्ति का ग्रहण कैसे ? यह बात ठीक ही है कि घ्राण गृहीत होना चाहिये लेकिन प्राण के (पंचवृत्ति) के ग्रहण से ही घ्राणेन्द्रिय का भी ग्रहण हो गया ऐसा श्रुति का अभिप्राय है।

समूचे करणसमुदाय की प्रवृत्ति जिसके लिये है, जिससे प्रेरित है, वह ब्रह्म है यह इस प्रकरण में बताना इष्ट है अतः घ्राणादि जो कुछ कहने से छूटा लगे वह सभी समझ लेना चाहिये।

इसी तरह वह चक्षु का चक्षु है : रूप का प्रकाश करने वाली चक्षु में जो रूप को ग्रहण करने का सामर्थ्य है वह तभी है जब चक्षु तादात्म्येन आत्मचैतन्य पर अध्यस्त हो अर्थात् आत्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाये। इसी से आत्मा को चक्षु का चक्षु कह दिया।

पूछने वाला यही चाहता है कि जिसके बारे में उसने पूछा है उसे जाने अतः गुरु ने यह कहा भले ही नहीं कि उक्त तत्त्व जानना है लेकिन पूछे तत्त्व का वर्णन कर फल बताया है तो यही समझना पड़ेगा कि उनका तात्पर्य है कि उस तत्त्व को जानकर यह फल मिलता है। इसलिये श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादिरूप जो 'विद्वद्बुद्धिगम्यम्' आदि से कहा ब्रह्म है उसे जानकर यह फल मिलता है—यह गुरु का उत्तर हुआ। इस प्रकार 'जानकर' यह शब्द जोड़ लेना चाहिये।

'अमृत हो जाते हैं' इस फलकथन से भी सिद्ध होता है कि 'जानकर' यह कहना विवक्षित है क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान से ही अमरता मिलती है।

ब्रह्म जानकर क्या होता है ? इसका उत्तर श्रुति ने दिया 'अतिमुच्य अमृता भवन्ति'—छोड़कर अमृत हो जाते हैं। यद्यपि 'क्या छोड़कर' यह नहीं कहा तथापि ज्ञान से जिसे छोड़ा जा सकता है और जिसे छोड़कर अमरता मिलती है उसे ही छोड़ना कहा जा सकता है अतः 'श्रोत्र आदि करणसमूह को छोड़कर' यह अभिप्राय है।

श्रोत्रादि में आत्मताबुद्धि करके ही श्रोत्रादि-उपाधि वाला हुआ भी श्रोत्रादि से विशिष्ट आत्मा रूप से पैदा होता और मरता रहता है अर्थात् संसार में चलता रहता है।

इस प्रकार क्योंकि संसार ग़ैर-समझी से है इसलिये श्रोत्रादि का श्रोत्रादि रूप ब्रह्म ही आत्मा है यह सही समझ पैदा करना मोक्षोपाय है। श्रोत्रादि में होने वाली उपलब्धिरूपता (उपलब्धृतया प्रकाशकता) का जो निमित्त है वही श्रोत्रादि का श्रोत्रादि कहा गया है, वही स्वरूपतः सनातन उपलब्धि (ज्ञप्ति) है तथा सभी विशेषों से रहित अतः आत्मतत्त्व है।

उस आत्मतत्त्व को जब सारी ग़लत फ़हमियाँ छोड़ कर समझ लेते हैं तभी 'अतिमोचन' अर्थात् श्रोत्रादि में आत्मताबुद्धि छोड़ी जाती है।

धीर या बुद्धिमान् वही होता है जो श्रोत्रादि क्षेत्र में आत्मताबुद्धि छोड़ देता है। अज्ञान के कारण ही अध्यस्त है बुद्ध्यादिलक्षण संसार, इससे छूटना सम्पन्न होने पर ही कोई धीर या बुद्धिमान् होता है। एक खास बुद्धिमानी है जिसके बिना श्रोत्रादि को आत्मा समझना छोड़ा नहीं जा सकता।

'प्रेत्य अस्माद् लोकात्' अर्थात् इस लोक से हटकर। लोक से हटने का मतलब है, पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धु आदि को मैं-मेरा ऐसा न समझना। पहले गौणात्मता हटे, तब ममता हटे, तभी मिथ्यात्मा से अहन्ता-ममता हट सकती है।

'लोक से हटकर' का मतलब हुआ सभी एषणाओं से रहित होकर। ऐसा



होने पर ही अमृत होते हैं, मरना कभी भी जिनका धर्म नहीं ऐसे हो जाते हैं।

वेद ने ही कहा है 'कर्म, पूजा, धन से नहीं, त्याग से ही कुछ लोगों ने अमरता पायी', 'इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो ब्रह्म जी ने हिंसा कर दी है, अतः अमरता चाहने वाला अन्तर्मुखी होवे', 'मन की सब कामनायें छूटें तब यहीं परमात्मा का साक्षात्कार हो' इत्यादि।

अथवा 'प्रेत्यास्माल्लोकात्' का अर्थ है इस शरीर से वियुक्त होकर। ज्ञान से कर्माशय नष्ट हो चुकने के कारण अन्य शरीर से तो संबंध होगा नहीं अतः जन्मरूप मरण का कोई निमित्त न रह जाने से वे अमृत हो जाते हैं। 'अतिमुच्य' अर्थात् 'छोड़कर'— यह कहने से ही एषणात्याग बता दिया अतः 'प्रेत्य' से उसे पृथक् कहना जरूरी नहीं। इसलिये 'अस्माद् लोकात् प्रेत्य' का अर्थ है इस शरीर से मर कर।

अज्ञान के रहते ही कर्म नये-नये शरीर प्राप्त कराते हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर तो अज्ञान समाप्त हो जाता है, अतः कर्मों का कोई सम्बन्ध न रह जाने से अन्य शरीर प्राप्त नहीं होता। सभी कर्मों का तथा उनके आरंभों अर्थात् फलों का कारण है अज्ञान और उससे ठीक विपरीत है आत्मज्ञान अतः जैसे दावाग्नि सूखा तिनका जला डालती है ऐसे विद्या अविद्या को समाप्त कर देती है। फलतः जब शरीरान्तर मिलता नहीं तो इस शरीर के समाप्त हो जाने पर विद्वान् अमृत ही हो जाते हैं। जीवितदशा में मृत की प्रतीति थी, वह भी रह नहीं जाती।

'जन्मों की अनादि शृंखला में मैं शरीरी होता आया हूँ और आगे भी होता रहूँगा' इस तरह शरीरादि की परम्परा न टूटने के विचार से अपने में धर्मादि के कर्तृत्वादि का अध्यास होता है तथा कामादि दोषों की कल्पना हो जाती है; इन्हीं अध्यासों के कारण मृत्यु का अपने पर आरोप कर लेते

हैं; वह मृत्यु परमात्मज्ञान से हट जाती है इसलिये कह दिया जाता है कि अमृत हो गये, मोक्ष हो गया। वास्तव में तो मृत्युप्रतीतिकाल में भी अमृत ही थे क्योंकि नित्य ही आत्मस्वरूप है। 'अमृत हो जाते हैं' यह केवल उपचार है।

## तृतीय मन्त्र

आचार्य द्वारा समझाये जाने पर भी क्योंकि शिष्य पूरी तरह नहीं समझ पाया अतः पर्यनुयोग अर्थात् आक्षेप करता है कि जो आपने कहा वह नहीं हो सकता, और इस आक्षेप में क्या कारण है यह 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इस मंत्र के प्रथम भाग से शिष्य व्यक्त कर रहा है। गुरु ने 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि से समूची बात बता दी, जैसे ब्रह्मा जी ने इन्द्र-विरोचन को प्रारम्भ में ही बता दी थी, लेकिन क्योंकि आत्मवस्तु सूक्ष्म है इसलिये शिष्य को झटिति समझ में आयी नहीं। जब तक संशय-रहित ज्ञान न हो तब तक समझने का प्रयास करते ही रहना चाहिये यह विधान करने के लिए श्रुति शिष्यमुख से बार-बार आक्षेप कराती है, 'न विद्मः', 'न विजानीमः।' यों आक्षेप बार-बार किया है। अन्यत्र प्रश्न भी पुनःपुनः उठाये जाते हैं। यहाँ भी आक्षेप प्रश्नपर्यवसायी ही है अर्थात् असंभवता कहकर संभवता ही पूछी गयी है। आत्मविषय में यद्यपि अपनी बुद्धि लगाये बिना समझ नहीं हो सकती तथापि प्रायः शंकायें गुरु से ही समाहित करानी पड़ती हैं यह श्रौत अभिप्राय है। खुद सोच-विचार करना पड़ेगा यह दिखाने के लिये शिष्य आक्षेप में हेतु भी बता रहा है, केवल आक्षेप ही नहीं कर रहा।

**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादु।**

**अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।।३।।**

शिष्य कहता है: **तत्र** = उस ब्रह्म को **चक्षुः**= आँखें (सभी ज्ञानेन्द्रियाँ) **न गच्छति** = विषय नहीं करतीं, **न** = न **वाक्** = वाणी **गच्छति** =उसे विषय करती है **नो** = न **मनः** = मन ही विषय करता है। **एतद्** = यह ब्रह्म मन आदि करणों को **यथा** = जिस ढंग से **अनुशिष्यात्** = अनुशासित, प्रेरित, कर सके, वह ढंग **न विद्मः** = हम समझ नहीं पाये, **विजानीमः** = हमें लगता है कि ऐसा **न** = हो ही नहीं सकता।



इस पर आचार्य उत्तर देते हैं : **तत्र** = उसे **न** = न **चक्षुः** = आँखें (ज्ञानेन्द्रियाँ) **गच्छति** = विषय करती हैं और **नो** = न **मनः** = मन ही उसे विषय करता है। इसीलिये तो **यथा** = जिस ढंग से हमने समझाया उससे अन्य कोई ढंग **न विद्मः** = न हमें समझ आया और, **विजानीमः** = हमें लगता है कि **न** = है भी नहीं, जिससे कोई **एतद्** = इस ब्रह्म का **अनुशिष्यात्** = उपदेश कर सके। **ये** = जिन श्रद्धेय गुरुजनों ने **नः** = हमें **तद्** = वह तत्त्व **व्याचचक्षिरे** =स्पष्टतः पूरी तरह समझाया, उन **पूर्वेषाम्** =पुराने आचार्यों का वचन हमने **इति** = ऐसा ही **शुश्रुम** = सुना कि **तद्** = वह तत्त्व **विदितात्** = विदित से (ज्ञेय से) **अन्यद्** = अन्य **एव** = ही है **अथो** = और **अविदितात्** = अविदित से भी **अधि** =अलग ही है, ऊँचा ही है।

श्रोत्रादि का जो आत्मा है, जिससे वे सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, उसे वे श्रोत्रादि विषय नहीं करते, उसके बारे में कोई जानकारी देने में स्वतः असमर्थ हैं। यहाँ इन्द्रियों में चक्षु और वाक् का ही नाम लिया है लेकिन तात्पर्य सभी इन्द्रियों से है।

इन्द्रियों से न सही, सुख आदि की तरह अन्तःकरण से उसका पता चलता होगा ? इस संभावना को मना किया यह कहकर कि मन भी उसे विषय नहीं करता। वह सुखादि की तरह मन का विषय इसलिये नहीं है कि इन्द्रियों का अविषय है।

यह ब्रह्म मन आदि करणसमूह का शासन कर सके, उनकी प्रवृत्तियों

में निमित्त हो सके ऐसा कोई ढंग हम न आपके कहने से समझ पाये और न खुद ही अपने मन से सोचकर हमें समझ में आया, कारण कि यह ब्रह्म हर तरह से अविषय ही है।

पक्षान्तर में यह वाक्य यों समझना चाहिये—शिष्य ने तात्पर्यतः जब यह कहा कि श्रोत्रादि का श्रोत्रादि जो ब्रह्म है उसे अन्यापह्नव से नहीं बल्कि उसकी निजी विशेषतायें बताकर समझाइये, तो आचार्य बोले 'वैसे उसे नहीं बता सकते क्योंकि वह चक्षुरादि का विषय है नहीं जो पदार्थान्तरों की तरह नाम-रूपात्मक विशेषता वाला हो।'

ब्रह्म श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि है अर्थात् प्रथम-श्रोत्रादि का आत्मा है, उनका स्वरूप है, उनकी वास्तविकता है। इसलिये उसे चक्षु आदि विषय नहीं करते। अपने आत्मा को विषय नहीं किया जा सकता। जैसे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ वैसे ही वागादि कर्मेन्द्रियाँ भी उसे विषय करती नहीं।

वाणी अपने अभिधेय को (वाच्य को) विषय करती है यह तब कहा जाता है जब वाणी द्वारा उच्चरित शब्द अभिधेय को प्रकाशित करे। शब्द और उसे उच्चरित करने में करणभूत वाणी दोनों का आत्मा ब्रह्म है अतः उसकी और वाणी की गति नहीं। जैसे अग्नि दाहक है, चीजें जलाती है, और प्रकाशक है, चीजों को प्रकाशित भी करती है, लेकिन खुद को न जलाती न प्रकाशित ही करती है, ऐसे ही वाणी की गति का काफ़ी विस्तृत क्षेत्र होने पर भी वह आत्मा को (अपने स्वरूप को, अधिष्ठान को) विषय नहीं करती।

मन भी परमात्मा को अपना विषय नहीं बना पाता, ब्रह्म को परिच्छिन्न नहीं कर सकता। अपने से भिन्न के बारे में ही मन संकल्प और निश्चय करता है अतः अपने आत्मा का न संकल्प कर सकता है, न निश्चय। ब्रह्म उसका भी आत्मा है ही।

इन्द्रियों और मन से ही वस्तु का विशेष-ज्ञान होता है। ब्रह्म इन दोनों



का अविषय है अतः 'ब्रह्म ऐसा है' यों हम उसे नहीं जानते, नहीं जान सकते क्योंकि वह 'ऐसा' या 'वैसा' नहीं है।

शिष्योक्तिरूप से इस वाक्य के शब्दों के जो अर्थ थे वे ही अर्थ गुरूक्तिरूप से भी हैं, 'यथैतदनुशिष्यात्' के अर्थ में अन्तर है : वहाँ मतलब था कि मन आदि का अनुशासन ब्रह्म कैसे कर सकता है। यहाँ (गुरुवचन में) अर्थ है—जिस ढंग से हमने समझाया इससे अन्य कोई तरीका हम नहीं समझते हैं कि हो जिससे कोई अन्य गुरु भी अपने शिष्यों को समझा सके।

क्योंकि ब्रह्म अविषय है इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि से विलक्षण कोई प्रकार हमें समझ नहीं आया जिससे शिष्यों को इस ब्रह्म का उपदेश किया जा सके। इन्द्रियों से जिसका ग्रहण हो उसे तो जाति,गुण, क्रिया, या अन्य विशेषण बताकर दूसरे को समझाया जा सकता है। ब्रह्म जाति आदि किसी विशेषता वाला है नहीं अतः उपदेश से शिष्यों को उसका ज्ञान कराना कठिन है, संभव नहीं।

'न विद्मः' आदि से श्रुति ने यह कहा कि आत्मा का उपदेश करने में आचार्य को और उस उपदेश का अर्थ समझने में शिष्य को अत्यधिक यत्न करना चाहिये।

परमात्मा की सर्वथा अविषयता कहने पर प्रतीत होगा कि उसका उपेदश किसी भी तरह नहीं दिया जा सकता। इस भ्रम को हटाने के लिये कहा कि हमने पूर्वाचार्यों से यथाशास्त्र इसका उपदेश ग्रहण किया है। प्रत्यक्षादि प्रमाण परमात्मा का सही ज्ञान नहीं करा सकते यह ठीक है लेकिन आगम (वेद) से तो उसका अज्ञान मिटा पाना संभव है। गुरुओं द्वारा कहा ही आचार्य ने सुना दिया 'अन्यदेव' इत्यादि।

यदि शिष्य कहे 'ब्रह्म की प्रेरकता असिद्ध करना मेरा अभिप्राय नहीं। मैं तो कह रहा हूँ कि उसकी प्रेरकता मैं नहीं समझा। वह वास्तविक-

अवास्तविक चाहे जिस तरह की हो, मुझे तो उसके स्वरूप का ज्ञान जैसे हो सके वैसे समझाइये।' तो आचार्य इस आगमवचन को सुनाकर उसे समझा रहे हैं 'अन्यदेव' आदि। इस वाक्य का अभिप्राय है कि ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है।

जिसका प्रसंग चल रहा है वह श्रोत्रादि का श्रोत्रादिभूत परमात्मा, जो उनका विषय नहीं है, यह विदित से अन्य ही है अर्थात् पृथक् ही है। विदि-क्रिया (धात्वर्थ) से संभूत अतिशय से घिरी वस्तु को विदित कहते हैं। सारा ही व्यक्त प्रपंच विदित है क्योंकि सभी कभी-न-कभी किसी-न-किसी की विदिक्रिया का कर्म बनता ही है। वह परमात्मा व्यक्त प्रपंच से अन्य है अतः विदित से अन्य कहा गया। आत्मा विदित नहीं हो सकता क्योंकि जो जानने वाला है वही तो वह है।

ज्ञाता परस्पर भिन्न भले ही हों पर यह तो सर्वात्मक (सर्वरूप) है अतः इससे भिन्न कोई नहीं जो ज्ञाता हो और इसे जाने ताकि यह विदित बने। इसलिये यह विदित से अन्य है। श्वेताश्वतर का मंत्र भी है 'वह वेद्य को जानता है लेकिन उसे जानने वाला कोई नहीं।' याज्ञवल्क्य ने भी कहा है 'अरे! जानने वाले को किससे जानोगे ?' अतः विदितान्यता श्रुतियों में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

विदित से अन्य कहने का और भी तात्पर्य है : व्यक्त ही विदित हुआ करता है, उससे अन्य है अर्थात् व्यक्त नहीं है। व्यक्त विदित है अर्थात् किसी अन्य का विषय है, अतः अल्प है—परिच्छिन्न है। सद्वितीय होने से उसका कोई-न-कोई विरोधी भी है, इसीलिये अनित्य है। अनित्य है तो उसे अवश्य अनेक होना पड़ेगा और इससे वह अशुद्ध ही होगा। क्योंकि विदित ऐसा होता है इसलिये सिद्ध हुआ कि ब्रह्म इससे विलक्षण है, ऐसा नहीं है।

विदित से अन्य है तो अविदित होगा यह संभावना उपस्थित न हो जाये इसलिये आचार्य ने कहा कि 'अथो' और भी वक्तव्य है, अब्रह्म अविदित से भी परे है। जो विदित से विपरीत हो वह अविदित होता है, अव्याकृत होता है। अविद्यालक्षण होता है, व्याकृतबीज होता है। उससे ब्रह्म 'अधि' है। 'अधि'का मतलब होता है ऊपर, लक्षणा से यहाँ 'अधि' का मतलब 'अन्य' है क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि जो जिसके ऊपर होता है वह उससे अन्य होता है।



आत्मा विदित नहीं है तो अविदित हो, इसमें हर्ज़ क्या है? हर्ज़ यह है कि वह विज्ञान से निरपेक्ष होने के कारण अविदित भी नहीं हो सकता। अविदित वही होगा जो विज्ञान-सापेक्ष है क्योंकि अविदित के विज्ञान के लिये ही लोगों की प्रवृत्ति होती है। आत्मा तो विज्ञान-निरपेक्ष है अतः अविदित नहीं है। आत्मा विज्ञान-निरपेक्ष क्यों है ? क्योंकि इसका स्वरूप ही विज्ञान है। जिसका जो स्वरूप होता है उसे दूसरे से चाहे यह नहीं हुआ करता।

आत्मा को खुद से भी विज्ञान की अपेक्षा नहीं है क्योंकि बिना अपेक्षा के ही वह संपन्न है, स्थित है। दीपक स्वरूपाभिव्यक्ति के लिये न किसी अन्य से और न खुद से किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखता है। ऐसे ही विज्ञान भी अपेक्षा नहीं रखता। जो अनपेक्ष है वह स्वतः ही सिद्ध है।

प्रदीप क्योंकि प्रकाशरूप है इसलिये अगर मानें भी कि उसे प्रकाश चाहिये होगा, तो भी उस अपेक्षित प्रकाश का प्रयोजन क्या होगा ? अपेक्षित प्रकाश का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि प्रकाश का जो कोई भी प्रयोजन हो सकता है वह तो (अपेक्षक माने गये) प्रदीपप्रकाश से ही पूरा हो चुकेगा। (अपेक्षित या अपेक्षक मानने पर भी प्रकाशरूप से) प्रकाश में तो कोई अन्तर होता नहीं कि प्रदीपप्रकाश प्रकाश का प्रयोजन पूरा न करे और उसके लिये अपेक्षित प्रकाश की इन्तजार हो।

प्रदीप की स्वरूपाभिव्यक्ति होने पर प्रदीपप्रकाश सार्थक नहीं होता।

ज्ञान को ज्ञान की कोई अपेक्षा न मानने पर क्या लौकिक अनुभव और

शास्त्र दोनों का विरोध नहीं होगा? नहीं होगा क्योंकि जिसे समझकर विरोध की प्राप्ति है उससे अन्य की ही यहाँ चर्चा है।

यह जो सिद्धान्ती ने कहा कि विज्ञानस्वरूप होने से स्वरूपविज्ञान को किसी अन्य विज्ञान की अपेक्षा नहीं, यह बात ठीक नहीं क्योंकि आत्मा के बारे में 'मैं आत्मा को नहीं जानता' यों अज्ञान, गलत ज्ञान और सही ज्ञान सभी देखे जाते हैं। श्रुति भी यह मानकर कि आत्मा अविदित है और उसे ठीक तरह समझा जा सकता है, उपदेश देती है 'वह तू है'। 'आत्मा को ही जाना', 'निश्चय ही इस आत्मा को जानकर' आदि से स्पष्ट ही श्रुति ने कहा कि आत्मा जाना जाता है। अतः यह विदित-अविदित के क्षेत्र में है अर्थात् विज्ञानसापेक्ष ही है। जब सभी श्रुतियाँ आत्मस्वरूपविज्ञान को समझा रही हैं तो यही मतलब निकलता है कि उस विज्ञान को समझने की अर्थात् किसी, अन्य विज्ञान की जरूरत है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और साक्षात् श्रुति दोनों का विरोध रहते कैसे कहते हो कि विज्ञान को विज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं ?

हमारी बात में जो तुम्हें दोष लग रहा है वह है नहीं। क्यों ? जिसमें अनित्य अर्थात् सापेक्ष विज्ञान प्रतीत हो रहा है और शास्त्रादि से आक्षिप्त समझ आ रहा है, वह परमार्थ चैतन्य से, निरपेक्ष विज्ञान से अन्य ही है। सापेक्ष ज्ञान वाला वह आत्मा ऐसा है :

(१) अज्ञान उसका चिह्न है—बुद्धि-आदिरूप से जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं उन्हें हम 'मैं' समझते हैं। उनमें हमें अभिमान है। यह अभिमान भी अनादि जन्मों की शृंखला से चला आ रहा है, सन्तत है। जब गहरी नींद में प्रकट नहीं है तब भी सूक्ष्मरूप से मौजूद ही है अतः बना रहने वाला है। इसका जो यह अविच्छेद अर्थात् लगातार रहना है, इससे जिसका रूपण अर्थात् ज्ञान होता है वही इसका कारणभूत अनिर्वचनीय अज्ञान है। उस अज्ञान को दृष्टि



में रखकर ही, अज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही, अज्ञान के सन्दर्भ में ही जिसे समझा जा रह है वही 'आत्मा' सापेक्षज्ञान वाला है। जैसे दर्पण का सहारा छोड़कर निरूपण करना चाहें तो जिसका कुछ निरूपण नहीं हो पाये, दर्पण के सहारे ही निरूपण हो पाये, वही प्रतिबिम्ब कहा जाता है, वैसे ही अज्ञान के ही सहारे निरूपित होने वाला है अतः यह 'आत्मा' भी वास्तव में जो आत्मा है उसके प्रतिबिम्ब जैसा ही है। अतः इसे चिदाभास भी कहते हैं।

(२) अविवेकात्मक है, (३) बुद्धि के ज्ञानों वाला है, (४) चक्षु आदि इसके करण हैं, (५) उसका आन्तरिक सार नित्य चित्स्वरूप आत्मा ही है।

इन पाँच विशेषणों से समझाया गया जो जीवात्मा है उसी में अनित्य (सापेक्ष) विज्ञान भासता है। यह 'आत्मा' उससे अन्य है जिसे हम निरपेक्ष विज्ञान कह रहे हैं। सभी विशेषणों से अन्यता ही स्पष्ट की है। उस आत्मा से जीवात्मा अन्य क्यों है ? दो कारणों से : (१) बुद्धिवृत्तियाँ—नीलज्ञान, पीतज्ञान आदि—उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं और यह उनके धर्मरूप से ही भासता है अतः अनित्य चैतन्य वाला लगता है जब कि जिसे हम आत्मा कह रहे हैं वह नित्य चैतन्य है। (२) क्योंकि यह विलक्षण अर्थात् अनेक भी अवभासित होता है इसलिये भी यह आत्मा से अन्य ही है।

वास्तव में आत्मा तो अन्तःकरण अर्थात् मन का भी मन है। श्रुति ने उसे सर्वान्तर बताया अतः वह अन्तर्गत है।

अज्ञ लोगों द्वारा वास्तव आत्मा से विपरीत लक्षण वाला बाह्य अर्थात् अनात्मा होता हुआ भी जो बुद्धिविशिष्ट है वह अपने अन्तर्गत अर्थात् गर्भ की तरह अपने भीतर घुसे हुए नित्य-विज्ञानस्वरूप और आकाश की तरह सभी परिवर्तनों से रहित वास्तवात्मा से तादात्म्य के कारण 'आत्मा' ऐसा समझ लिया जाता है और जैसे लपटों की अनित्यता से अग्नि अनित्य समझी जाती है ऐसे प्रकट और विलीन होने वाले अनित्य विज्ञानाभासों से तादात्म्यवश

आत्मा अनित्य-विज्ञान वाला, सुखी-दुःखी आदि समझ लिया जाता है।

इसलिये (पूर्वोक्त विशेषणपंचक वाला होने से) नित्य-विज्ञानस्वरूप आत्मा से अन्य ही वह है जो सापेक्ष विज्ञान वाला प्रत्यक्षादि से समझा जाता है।

जीव में ही विज्ञान की सापेक्षता है और उसे ही विपरीत ज्ञान होना संगत है, नित्यविज्ञान में न अपेक्षा है न विपरीत ज्ञान।

आत्मा यदि निरपेक्षज्ञान हो तो 'तत्त्वमसि' आदि ज्ञानोपदेश तथा 'उसने आत्मा जाना' आदि अनुभवबोधक वाक्य संगत कैसे होंगे? आदित्य किसी दूसरे से तो प्रकाशित किया नहीं जाता अतः आत्मा के प्रयोजन से ज्ञान का उपदेश व्यर्थ है (और अनात्मा के प्रयोजन से उपदेश हो इसकी संभावना ही नहीं)। शास्त्र व्यर्थ न हो इसके लिये आत्मा को सापेक्षज्ञान ही मानना होगा अन्यथा शास्त्रविरोध क्यों न होगा ?

शास्त्रविरोध होने की संभावना नहीं क्योंकि 'लोकों' द्वारा किये अध्यास को हटाना उपदेश का प्रयोजन है। नित्य-विज्ञान सर्वरूप आत्मा में लोकों द्वारा बुद्धि आदि अनित्य धर्म एवं बुद्धि आदि अनित्यों के धर्म अध्यारोपित हैं क्योंकि आत्मा का अज्ञान है, अध्याससमेत अज्ञान के बाध के लिये निरपेक्षज्ञानरूप आत्मा का ज्ञानोपदेश सार्थक है।

जैसे अग्नि के निमित्त से जलादि में उष्णता होती है तो अग्नि में उष्णता मुख्य मानी जाती है ऐसे ही आत्मा के निमित्त से अन्यत्र बोधाबोध होते हैं तो वे आत्मा में मुख्य हों यही न्यायानुसारी है।

जैसे सूर्य की संनिधि होने-न-होने से ही संसार में दिन-रात हो जाते हैं, सूर्य कुछ करता नहीं कि दिन या रात हों, ऐसे ही आत्मा भी कुछ करता नहीं कि अहंकारादि में बोधाबोध हों।

अग्नि और आदित्य में उष्णता और प्रकाश हमेशा हैं, फिर भी क्योंकि



ये अन्यत्र उष्णता या प्रकाश के होने-न-होने में निमित्त होते हैं इसलिये 'आग जलायेगी' 'सूर्य प्रकाशित करेगा' इत्यादि प्रयोगों में उनमें अनित्य उष्णता या प्रकाश का उपचार हो जाता है। इसी तरह बोध स्वरूप से नित्य है पर विषय क्योंकि काल में सीमित है इसलिये बोध में भी उस सीमा का उपचार हो जाता है।

उक्त अनिर्वाच्य ढंग से लोकों को 'मैं सुखी-दुःखी बद्ध हूँ इस बन्धन से छूटना चाहता हूँ' इत्यादि अध्यारोप हो रखा है। इसे देखकर श्रुतियाँ 'तू ब्रह्म है' आदि उपदेश और 'उसने आत्मा को ही जाना' आदि सम्यग् बोध प्रदर्शित करती हैं जिसमें उनका प्रयोजन इतना ही है कि अध्यारोप का बाध हो जाये।

जैसा अंधेरा हटने पर कहा जाता है 'सूर्य स्वयं को प्रकाशित कर रहा है' उसी तरह नित्य बोधरूप आत्मा बोध-अबोध का कर्ता कहा जाता है। इसलिये आत्मा अविदित से अन्य है। 'अधि' शब्द का अर्थ ही है अन्य। अथवा जो जिससे ऊँचा होता है वह उससे अन्य होता है यह ऊँचा होने से ही सिद्ध है। जैसे नौकरों से राजा ऊँचा होता है तो उनसे अलग ही होता है। अतः 'अधि' से 'अलग' अर्थ लक्षित है। तात्पर्य है कि अविदित अर्थात् अव्यक्त से परमात्मा अन्य है।

विदित-अविदित से अन्य कहने के दो प्रयोजन हैं: (क) जो विदित होता है वह अल्प (परिच्छिन्न), मर्त्य (विनाशी) और दुःखरूप अतः हेय होता है। जब ब्रह्म उससे अन्य कह दिया तो अभिप्राय हो गया कि वह हेय या छोड़ने लायक नहीं है। और अविदित से अन्य कहा तो यह भी बता दिया कि वह उपादेय भी नहीं है! अर्थात् वह न हेय है, न ग्राह्य। विदित है व्यक्त और अविदित है अव्यक्त। इन्हें कार्य और कारण रूप से समझा जाता है। इन दोनों से विज्ञानरूप परमात्मा अन्य है, उसमें कोई विशेष (कार्य-कारण-ग्राह्य त्याज्य आदि खासियतें) नहीं हैं। कार्य के प्रयोजन से कार्यभिन्न कारण का

ग्रहण किया जाता है और ग्रहीत कार्य-कारण दोनों से अन्य होता है। अविदित से अन्य कहकर जो ब्रह्म को उपादेयभिन्न कहा उसका अभिप्राय निकलता है कि जानने वाला जो आत्मा है वह अपने से अन्य किसी प्रयोजन के लिये अपने से अन्य किसी ब्रह्म को ग्राह्य न माने, स्वात्मा को ही ब्रह्म समझे।

आत्मा होने से ही वह हेय-उपादेय दोनों नहीं है क्योंकि एक वस्तु दूसरी वस्तु का हान या उपादान कर सकती है, उसी से उसका हान या उपादान हो जाये ऐसा नहीं हो सकता, जिस-किसी व्यक्ति का हाथ आदि उसी हाथ आदि से छोड़ा या पकड़ा जा सके यह नहीं हो सकता। आत्मा ही ब्रह्म है और सबसे भीतर (प्रत्यक्) होने के कारण वह अविषय है। अविषय होने से वह किसी दूसरे के द्वारा छोड़ा या पकड़ा नहीं जा सकता, वस्तुतः उससे अन्य कुछ या कोई है ही नहीं जो उसे छोड़े या पकड़े।

(ख) आत्मा से अन्य ही हेय या उपादेय होता है। ब्रह्म उन दोनों से अन्य है तो आत्मा से अन्य नहीं हो सकता। 'मुझसे अन्य कोई ब्रह्म है जिसे जानना चाहिये'—यह भावना इस उपदेश से समाप्त हो जाती है। निजात्मा से अन्य कोई वस्तु (परमार्थतत्त्व) विदित और अविदित दोनों से अन्य नहीं हो सकती। अतः आत्मा ही ब्रह्म है—यह वाक्यतात्पर्य है।

'पूर्वजों से ऐसा सुना' कहकर 'अन्यदेव' इत्यादि नित्य वेद का वचन है यह बताया क्योंकि पूर्वाचार्यों ने वेदवचन से ही समझाया था। यही एक वाक्य नहीं, यह अर्थ अन्यत्र भी कहा है : 'यह आत्मा ब्रह्म है' यह आथर्वण श्रुति है। 'जो आत्मा है वह पापरहित है' ऐसा सामवेद में बताया है। 'जो साक्षात् अपरोक्ष है वह ब्रह्म है, जो आत्मा है वह सर्वान्तर (प्रत्यक्) है' यह यजुर्वेद ने कहा है। प्रकाश ब्रह्म है यह बात आचार्यों के परम्पराप्राप्त उपदेश से समझी है यह बताने के लिये 'पूर्वजों से ऐसा सुना' यह कहा।

'पूर्वाचार्यों ने व्याख्या की' कहकर सूचित किया कि गुरु का सहारा लिये



बिना तर्क के बल पर यह तत्त्व पकड़ में नहीं आ सकता। परम्परा से जिन्हें विद्या प्राप्त हुई उन्हीं के उपदेश से ब्रह्म समझने की कोशिश करनी चाहिये। तर्क, वेदाभ्यास, ऊहा, विविध विद्याओं का संग्रह, तप, यज्ञ आदि से ब्रह्मज्ञान असंभव है। यही बताने के लिये गुरु ने कहा कि उन्होंने भी अपने गुरुओं से ही इसे सुना-समझा है।

'जिन आचार्यों ने उस तत्त्व का विशेष स्पष्टता से कथन किया उन्हीं ने उसे विदित-अविदित से अन्य कहा अतः इसे समझाने का स्पष्टतम तरीका यही है। उन्होंने भी अपनी बुद्धिमात्र से सोची तर्कित बात हमें नहीं सुनायी थी बल्कि ब्रह्म का तात्पर्यतः बोधन कराने वाले नित्य वेद का ही व्याख्यान किया था; यह कहकर गुरु ने बता दिया कि यह बोध वेदानुसारी है और वेद का यह अर्थ अनादिपरम्परा से मिलता है। इससे ब्रह्मविद्या की प्रशंसा भी हो गयी क्योंकि तर्क तो अनिश्चित और भ्रामक भी होता है पर परम्पराप्राप्त सद्विद्या अवस्थित और यथार्थ ही होती है।

## चतुर्थ मन्त्र

'वह विदित और अविदित से अन्य है' इस वाक्य से जब यह प्रतिपादित हुआ कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म है तब श्रोता को शंका हुई 'वह ब्रह्म आत्मा तो कैसे हो सकता है ?'

आत्मा वह होता है जो कर्म-उपासना कर और उनसे फल पा सकता है। वह जन्म-मरण के चक्र में अनवरत चलता है। कर्म या उपासना रूप साधन का अनुष्ठान कर वह ब्रह्मादि देवताओं को पाना चाहता है—उनका दर्शन और उनका पद भी पाना चाहता है—या स्वर्ग पाने की ही इच्छा रखता है। स्वर्ग से अलौकिक की तरह लौकिक भोग भी समझने चाहिये, उन्हें चाहने वाला आत्मा है।

ब्रह्म तो उस आत्मा से अन्य ही होना चाहिये जो उपासनीय है, कर्म-उपासना से जिसे प्रसन्न किया जाता है। विष्णु, शिव, इन्द्र या सूत्रात्मा (ब्रह्मा), इनमें से कोई ब्रह्म हो सकता है, न कि प्रत्यगात्मा।

आत्मा को परब्रह्म मानने पर न केवल सामान्य लोकानुभव से विरोध होगा वरन् बड़े-बड़े विचारकों ने प्रयत्नपूर्वक जो निश्चय किये हैं उनसे भी विरोध होगा। मैं ही नहीं, मुझसे अन्य लौकिक भी ईश्वर से आत्मा अन्य मानते हैं और इसी तरह तार्किक भी दोनों के भेद का प्रतिपादन करते हैं। तार्किकों से यदि ग्रंथाश्रित मीमांसकों को अधिक श्रद्धेय कहो तो वे भी उसी तरह 'इस देवता की पूजा करो, उस देवता को प्रसन्न करो' यों आत्मा से अन्यभूत देवताओं की ही परिचर्या करते हैं अर्थात् उपास्य -उपासक का भेद ही मानते हैं अतः विदित जो उपास्य—उसे तर्क से विदित मानें, शास्त्र से, या लोकप्रसिद्धि से इसमें भले ही विकल्प हो—वह ब्रह्म होगा, उपासक तो उससे अन्य ही होना उचित है।

शिष्य के कथन से या मुखाकृति आदि से उसकी यह शंका समझ कर समाधान करने के लिए आचार्य ने कहा—'ऐसी शंका मत कर।

**यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।**

**यत्** =जो **वाचा** =वाणी से **अनभ्युदितम्** = अप्रकाशित है, **येन** = जिससे **वाग्** =वाणी **अभ्युद्यते** = प्रकाशितं या प्रयुक्त होती है, **तद्** = उसे **एव** = ही **त्वम्** = तुम **ब्रह्म** = निःसीम व्यापक चेतन **विद्धि** = समझो, **यद्** = जो **इदं** =यह **उपासते** = उपासित होता है उस **इदम्** = इस उपाधिविशिष्ट को **न** = ब्रह्म मत समझो।

**'यद्वाचा'** आदि मंत्रों से पूर्वोक्त तथ्य को फिर से कहा जा रहा है ताकि



अर्थ का दृढ निश्चय हो जाये। 'अन्यदेव' आदि वाक्य से जो यह रहस्यभूत शास्त्रतात्पर्य ब्राह्मणग्रन्थ ने बताया, उसी की दृढता के लिये ये मंत्र ब्राह्मण में निविष्ट हैं।

'यत्' अर्थात् जो सम्पिण्डितसच्चिद्रूप ब्रह्म है वह शब्द द्वारा पूरी तरह कहा नहीं जाता, उससे प्रकाशित नहीं होता।

जिह्वामूल आदि आठ स्थानों पर आश्रित, अग्निदेव द्वारा अधिष्ठित, वर्णों को अभिव्यक्त करने वाला करण, एवं 'इतने, इस क्रम से कहे, इस अर्थ को बतायेंगे' ऐसे नियम से बँधे वर्ण तथा उनसे अभिव्यक्त होने वाले पद; ये वाक्-शब्द के अर्थ हैं। 'अकार ही सारी वाक् है। वह स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्मों द्वारा व्यक्त की जाती हुई बहुतेरी और अनेक रूपों वाली हो जाती है' इस श्रुति से वाक् का पूर्वोक्त अर्थ समर्पित है। मित, अमित, स्वर, सत्य और अनृत ही इसके विकार हैं। पदरूप से परिच्छिन्न और करणरूप गुण वाली उस वाणी से ब्रह्म अभ्युक्त (पूरी तरह कहा गया) अर्थात् प्रकाशित नहीं है।

'येन वागभ्युद्यते' से बताया जा रहा है कि वाक्प्रकाश में ब्रह्म की कारणता है। 'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' का अभिप्राय है कि वाणी अर्थात् अभिधान में जो अभिधेय का प्रकाशन करने का सामर्थ्य है उसमें ब्रह्म कारण है। पहले भी 'किससे शासित इस वाणी को बोलते हैं ?' इस प्रश्न का 'जो वाणी की वाणी' है आदि उत्तर देकर यही बताया था।

जिस अर्थ को बताना चाहें उसे कहने के निमित्त से करणसहित वाक् जिस ब्रह्मरूप चित्प्रकाश से प्रकाशित होती है, नियुक्त होती है, वही परब्रह्म है।

इसे ही पहले 'वाणी की वाणी' कहा था। शतपथ में बताया है कि वही शरीर में प्रविष्ट है और संपूर्ण होने पर भी उसके कार्यों से हम उसे सीमित

ही समझ लेते हैं। जब वह बोलता है तब हम समझते हैं वह वाणी है मानो वाणी कुछ ऐसी वस्तु हो जो स्वतंत्र रहते हुए बोला करती हो। बोलता वही है जैसे आतशी-शीशे से घास को जलाता सूर्य ही है। अन्यत्र वहीं उसे वाणी का नियन्त्रण करने वाला कहा। वह वाणी में रहते हुए उससे प्रत्यक् है, वाणी उसे जानती नहीं। जैसे हम शरीर को जानते हैं, शरीर तो हमें नहीं जानता, ऐसे, मानो वाणी उसका शरीर है। वाणी के भीतर रहते हुए ही वह वाणी पर अपना नियंत्रण कायम रखता है। वही अमृत आत्मा है।

अन्यत्र भी प्रश्न उठाया 'चेतन प्राणियों में जो घोषादि वर्णों से व्यक्त होने वाली वाक्शक्ति है, क्या उसे कोई ब्राह्मण जानता है ?' और इसका उत्तर दिया 'वाक्शक्ति वह है जिससे सपने में लोग बोलते है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को समझाया है कि देव की तरह, राजा की तरह जब जीव मानता है 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' तब उसे 'परम लोक' की प्राप्ति होती है, वही इसका निष्पाप, अभय, अकाम स्वरूप है। पुण्य-पाप, हृदय के सारे शोकों से वह स्वरूप परे है। वहाँ 'दूसरा' नाम का कुछ नहीं। जहाँ दूसरा हो वहीं कोई किसी को देख, सुन, बोल आदि सकता है। वहाँ ये व्यवहार नहीं। बोलना वहाँ नहीं होता लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जिसका अनुग्रह पाकर वाणी बोलती है वह वहाँ न हो। कृपा कर वाणी से जो बुलवाता है वह नित्य है। वक्ता अर्थात् बोलने वाला जिससे प्रकाशित-प्रयुक्त हुआ बोलता है वह है वक्ति और वह नित्य-ज्ञान-स्वरूप है। वही वाणी की वाक् यहाँ कही गयी थी उसे ही 'येन' परामृष्ट कर रहा है। वक्ता की वह वक्ति अविनाशी है, उसका लोप कभी नहीं होता।

उस आत्मस्वरूप को ही ब्रह्म समझो। ब्रह्म वह है जिससे अधिक कुछ नहीं



है। इसीसे उसे भूमा (बहुतायत) कहा गया है। हे शिष्य ! तुम आत्मा को ही ब्रह्म जानो। ब्रह्म-शब्द ही बताता है कि बड़ा होने से ही उसे ऐसा कहते हैं।

'तदेव' आदि श्रुतिवाक्य इसलिये है कि आत्मा में ही ब्रह्म का ज्ञान हो, क्योंकि ब्रह्म विषय तो है नहीं। आत्मा से अन्य किसी वस्तु को ब्रह्मरूप से ग्रहण करने की कोशिश छोड़कर 'जो वाणी का विषय नहीं बल्कि उसके प्रकाशकत्व का निमित्त है वह ब्रह्म मैं ही हूँ' यह समझ आये यही इस मन्त्र-वाक्य का प्रयोजन है। पहले यह बताया तो जा चुका है फिर भी वेद यत्नपूर्वक पुनः कहकर साधक को इतर व्यापार से उपरत कर रहा है। 'विद्धि' से वेद यह भी बता रहा है कि साधक सब यत्न, कोशिशें छोड़े क्योंकि यत्नविक्षेपवश ही साधन रहते भी प्रमा नहीं होती। 'नेदम्' आदि से उपास्य की ब्रह्मरूपता मना करना भी इसीलिये है कि यत्न छूटे।

ब्रह्म संव्यवहार के अयोग्य है। न वह कोई सम् अर्थात्, सत्य व्यवहार करता है और न उससे ही कोई सत्य व्यवहार किया जा सकता है इसमें हेतु है कि वह सारी विशेषताओं से अस्पृष्ट है। किन्तु ऐसे ब्रह्म में भी संव्यवहार हो जाता है सम् अर्थात् सत्य लगने वाला। उसे हम वाणी की वाणी, चक्षु की चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, करने वाला, भोगने वाला, अनुभव करने वाला, नियमन (मर्यादा-रक्षण) करने वाला, प्रशासन (अन्दर-बाहर दोनों ओर से शासन) करने वाला, जानकारी-रूप, आनन्द-रूप, ब्रह्म नामवाला इत्यादि समझते हैं। यह समझना, संव्यवहार, वाक् आदि उपाधियों से ही होता है। इन उपाधियों को छोड़कर जो अकेला आत्मा है उसे ब्रह्म जानो यह कहने के लिए 'ही' शब्द रखा है।

'उसे ही ब्रह्म समझो' यों सावधारण कह चुकने पर भी 'नेदम्' आदि से पुनः कहा कि अनात्मा ब्रह्म नहीं है ताकि आत्मा में ब्रह्मबुद्धि अवश्य हो और आत्मा से अन्यत्र वह नहीं ही हो।

### पञ्चम मन्त्र

**यन्मानसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।५।।**

**आहुः** = ब्रह्मवेत्ता बताते हैं कि **यद्** = जिसे (कोई) **मनसा** = मन से **न** = नहीं **मनुते** = सोचता, बल्कि **मनः** = मन ही **येन** = जिससे **मतम्** = विषय किया जाता है, **तद् एव** = उसे ही **त्वम्** = तुम **ब्रह्म** = ब्रह्म **विद्धि** = जानो **यद् इदम्** = जो यह **उपासते** = उपासना का विषय है **इदम्** = इसे **न** = ब्रह्म न समझो।

श्रुति में 'मन' शब्द से अंतःकरण कहा गया है अतः बुद्धि व मन दोनों का संग्रह हो गया है। जिसके द्वारा विचार किया जाता है वह मन है। चक्षु आदि अन्य सभी इन्द्रियों को कार्यकारी होने के लिये मन का उपकार चाहिये क्योंकि यही सब विषयों को जान पाता है। मन की अनेक वृत्तियाँ हैं जैसे कामना, संकल्प, शंका, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, निश्चय, डर इत्यादि। कामना आदि वृत्तियों वाले को यहाँ मन कहा है।

जो चेतन प्रकाश मन को अवभासित करता है वह क्योंकि प्रकाशक होने से मन का नियन्ता है इसलिये लोग उक्त मन से उस चेतन का संकल्प, उसके बारे में निश्चय नहीं कर पाते।

सब विषयों की अपेक्षा अन्तःकरण ही प्रत्यक् है इसलिये अपने को विषय नहीं करता तो जो उसका भी आत्मा है उसे क्या विषय करेगा!

मन का मनन-सामर्थ्य, उसका 'मनस्त्व', इसी से है कि वह अपनी अपेक्षा प्रत्यग् रूप से स्थित चेतनप्रकाश से अवभासित है। इसलिये ब्रह्मवेत्ता कहते हैं 'जिस ब्रह्म से वृत्तियों समेत मन विषय किया हुआ या व्याप्त है।'

'येन' ब्रह्म से अर्थात् नित्यविज्ञानस्वरूप से मन भी विषय किया गया है।

सभी करणों का जो विषय नहीं है, बल्कि अपने व्यापारों और विषयों



समेत सब करण ही जिससे इसलिये अवभासित होते हैं कि वह नित्य विज्ञान-स्वरूपावभास है, वह ब्रह्म ही तू है। 'यद्वाचा' आदि श्लोकों का तात्पर्य येही है।

स्मृति में कहा है कि क्षेत्री पूरे क्षेत्र को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे एक रवि इस सारे लोक को प्रकाशित करता है। 'उसके प्रकाश से यह सब विभात होता है' यह अथर्ववेद ने भी प्रकाशित किया है।

इसलिये वही जो मन का आत्मा है, भीतरी जानकार है, उस ब्रह्म को तू जान। 'नेदम्' आदि का अर्थ चौथे मंत्र की तरह ही है।

### षष्ठ मन्त्र

**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।६।।**

**चक्षुषा** = आँखों से लोग **यत्** = जिसे **न** = नहीं, **पश्यति** = देखते बल्कि **येन** = जिस चेतना से लोग **चक्षूंषि** = आँखों को **पश्यति** = विषय करते हैं, **तदेव** = उसे ही **त्वम्** = तू **ब्रह्म** = ब्रह्म **विद्धि** = जान **इदम्** = इसे **न** = नहीं **यद्** = जिस **इदम्** = इसकी **उपासते** = उपासना करते हैं।

अन्तःकरणवृत्ति समेत चक्षु से जिसे लोग नहीं देखते बल्कि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्न चक्षुर्वृत्तियों को जिस चैतन्य-आत्मज्योति से विषय करते हैं, व्याप्त करते हैं, वही ब्रह्म है यह जानना है।

### सप्तम मन्त्र

**यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।७।।**

**यत्** = जिसे **श्रोत्रेण** = कान से लोग **न** = नहीं **शृणोति** = सुनते, **येन** = जिससे **इदम्** = यह **श्रोत्रम्** = कान **श्रुतम्** = 'सुना' जाता है।

**तद्** = उस **ब्रह्म** = ब्रह्म को **एव** = ही **त्वम्** = तू **विद्धि** = जान, **इदम्** = यह **यद्** = जो **उपासते** = उपासित होता है **इदम्** =इसे **न** = नहीं।

मन लगाकर भी कान से ब्रह्म को कोई नहीं सुन सकता। शब्द जानने का करणभूत कान आकाश का कार्य है और दिक् नामक देवता की कृपा से कार्यकारी रहता है। ऐसे कान से भी परमात्मा को विषय कर सकें यह संभव नहीं।

सर्वत्र प्रसिद्ध यह श्रोत्र ही चैतन्यात्मप्रकाश से विषय किया हुआ है। वह आत्मप्रकाश ही विज्ञेय है।

### अष्टम मन्त्र

**यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।८।।**

**प्राणेन** = प्राण से लोग **यत्** = जिसे **न** = नहीं **प्राणिति** = विषय कर पाते, बल्कि **प्राणः** = प्राण ही **येन** = जिससे **प्रणीयते** =प्रणीत है, **यद्** = जो **इदम्-इदम्** =यह-यह इस तरह **न** = नहीं **उपासते** = उपासित हो सकता **तद्** = उस **ब्रह्म** = ब्रह्म को **त्वम्** = तुम **विद्धि** **एव** = अवश्य जानो।

प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के सत्त्वांश से बनी है और नथुने इसकी गोलक का प्रधान क्षेत्र हैं। यह इन्द्रिय कुछ सूंघे इसके लिये इसे मन की सावधानी तो चाहिये ही, साथ ही साँस खींचने की भी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इन दोनों सहायताओं को पाकर भी यह इन्द्रिय ब्रह्म को वैसे विषय नहीं कर पाती जैसे सुगन्ध-दुर्गन्ध को करती है।

घ्राण तो ब्रह्म को विषय नहीं कर पाता लेकिन खुद तो वह ब्रह्म का विषय ही बना रहता है क्योंकि उस चैतन्य-आत्म-ज्योति से अवभास्य होने के कारण ही वह अपने विषय (गन्ध) तक ले जाया जाता है। परमात्मा से



ही घ्राण को यह सामर्थ्य मिला है कि वह गंध से सम्पर्क कर पाता है और उसे जान पाता है। आत्मदेव ही उसे इस कार्य में नियुक्त करता है।

केवल घ्राणेन्द्रिय ही नहीं 'येन प्राणः' से उपनिषत् यह भी बता रही है कि क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञान के निमित्त से ही है।

**।। इति प्रथम खण्ड।।**

## द्वितीय खण्ड

### प्रथम मन्त्र

आद्य खण्ड में समझाया कि ब्रह्म का स्वभाव लोक से विलक्षण है। लोक में वस्तुएँ त्याज्य या ग्राह्य होती हैं किन्तु परमात्मा न त्याग के और न ग्रहण के योग्य है। ऐसी वस्तु एक आत्मा ही है, वही ब्रह्म है। यह समझाने पर शिष्य को यह प्रतीति हो सकती है 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—यों मैं अपने आप को सही तरह जानता हूँ ऐसा सोचकर शिष्य की मति को विचलित करने के लिये गुरु 'यदि' आदि द्वितीय खण्ड का पहला मंत्र बोल रहे हैं।

उपदेश से जिसका ग्रहण हुआ वह दृढ प्रतिष्ठित हो जाये इसलिये आचार्य शिष्य की बुद्धि विचलित कर रहे हैं।

पूर्वखण्ड में गुरु ने शिष्य की बुद्धि को विदित-अविदित के क्षेत्र से छुड़ाकर स्वात्मा में स्थापित किया और 'उसे ही तू ब्रह्म समझ' कहकर उसे स्वराट् पद पर अभिषिक्त कर दिया। क्योंकि उपास्य का निषेध हो गया इसलिये ब्रह्मरूप वह शिष्य स्वराट् है, उसका वन्दनीय कुछ नहीं है।

अब शिष्य की बुद्धि-पुष्करिणी में विकल्पवात से संदेह की लहरें उठाते हैं : आचार्य कहते हैं 'यदि तू मानता है कि तूने ब्रह्म को अच्छी तरह समझ लिया, तो मुझे लगता है कि तूने ब्रह्म का थोड़ा ही रूप समझा है!'

गुरु ने यह विचलित करना क्यों जरूरी समझा ? इसलिये कि पूर्व के उपेदश से जिस वास्तविकता को समझा है उस पर बुद्धि स्थिर हो जाये।

प्रश्न होता है कि 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसी निश्चित समझ तो इष्ट ही होती है, ऐसी समझ पर आचार्य ने आक्षेप क्यों किया ?

उत्तर है कि निश्चित समझ तो इष्ट है, लेकिन 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझ इष्ट नहीं है! जो ज्ञानकर्मभूत वस्तु विषयभाव को प्राप्त होती



है उसी को अच्छी तरह जाना जा सकता है। जैसे जलाने वाली आग से जलाने योग्य लकड़ी आदि को ही अच्छी तरह जलाया जा सकता है, अग्नि के स्वभूत रूप को तो आग से अच्छी तरह नहीं जलाया जा सकता!

सभी उपनिषदों का यह एकवाक्यतापूर्ण और अविरुद्ध अर्थ है कि सारे ही वेदिता का स्वात्मा ब्रह्म है। इस उपनिषत् में भी वही परमात्मा प्रतिपादित है।

(क) 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि सवाल-जवाब का कथन कर उपनिषत् ने उसी स्वात्मब्रह्म को बताया है।

(ख) 'जो वाक् से अभ्युदित नहीं है' कहकर आत्मब्रह्म का ही विशेषतः निश्चय कराया गया है।

(ग) परमात्मा के जानकारों ने संप्रदायपरम्परा से जो निश्चय पाया है वह विदित-अविदित से अन्य कहकर बताया अतः ब्रह्म की सम्प्रदायसिद्धता स्पष्ट करने से उसे ही तात्पर्यविषय कह दिया।

(घ) 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है'—यह तात्पर्यविषयीभूत ब्रह्म को उपपन्न करने का औपनिषद तरीका है।

जिसका उपन्यास किया उसी का उपसंहार श्रुति करेगी 'जानने वालों को अविज्ञात है, नहीं जानने वालों को विज्ञात है' कहकर।

क्योंकि स्वात्मरूप ब्रह्म में ही उपनिषत् का तात्पर्य निर्णीत है इसलिये 'सुवेद'—ऐसी यदि शिष्यबुद्धि हो तो उस पर आक्षेप करना गुरु के लिये उचित ही है। जैसे आग से आग नहीं जल सकती, ऐसे जानने वाले से जानने वाला नहीं जाना जा सकता।

ब्रह्म से अन्य कोई जानने वाला नहीं है जिससे अन्यभूत हुआ ब्रह्म उसका वेद्य हो। श्रुति ही 'इससे अन्य विज्ञाता नहीं है' कहकर ब्रह्म से भिन्न जानकार

का निषेध कर देती है। इसलिये 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझ ग़लत ही है। अतः 'यदि' आदि से आचार्य जो कह रहे हैं वह सर्वथा उचित है।

**यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य, त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।२.१।।**

आचार्य कहते हैं **'यदि** = अगर **सुवेद** = 'मैंने ब्रह्म को अच्छी तरह जान लिया' **इति** = ऐसा **मन्यसे** = समझ रहे हो तो **त्वम्** = तुम **अस्य** = मेरे द्वारा प्रतिपादित इस **ब्रह्मणः** = ब्रह्म का **यद्** = जो **रूपम्** = रूप **वेत्थ** = जान पाये हो वह **नूनम्** = निश्चित ही **दहरम्** = अल्प रूप **एव** = ही है। **अस्य** = मुझे विवक्षित इस ब्रह्म का **यद्** = जो रूप **त्वम्** = तुम **देवेषु** =देवताओं में सीमित (वेत्थ) समझते हो, वह **अपि** = भी अल्प रूप ही है। **अथ** = इसलिये **नु** = अब भी **ते** = तुम्हारे लिये ब्रह्म **मीमांस्यम्** = विचारणीय **एव** = ही है **(मन्ये)** ऐसा मैं समझता हूँ।'

तब सोच-समझकर शिष्य बोला **'मन्ये** = मैं समझता हूँ कि **विदितम्** = मैं समझ गया!'

आचार्य शिष्य के प्रति कहना प्रारम्भ करते हैं 'यदि' शब्द से : 'अगर कहीं तुम समझते हो 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' तो अभी तुम्हें सही बोध नहीं हुआ।' यहाँ 'यदि' इसलिये कहा कि यद्यपि जैसा बताया गया वैसा परमात्मा ठीक समझ पाना बहुत मुश्किल है तथापि ऐसा कोई जो दोषरहित निर्मल बुद्धिवाला होता है वह सही समझ भी लेता है और जो कोई ऐसा उत्तमाधिकारी नहीं होता है वह सही नहीं भी समझ पाता है। 'शिष्य नहीं ही समझा' यह निर्णय आचार्य कैसे करें ? अतः 'ठीक समझा कि नहीं'? ऐसी शंका रखते हुए आचार्य ने कहा है।

यह देखा गया है कि स्वभावदोष के कारण 'शरीर आत्मा है' ऐसी युक्तिविरुद्ध और उपदिष्ट से उल्टी बात भी समझ ली जाती है। विरोचन



साक्षात् प्रजापति का पुत्र था, पण्डित भी था, असुरों का शासक भी था, किंतु ब्रह्माजी ने जब कहा 'जो यह आँख में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत अभय है, यह ब्रह्म है,' तो उसने समझा कि जैसे प्रसिद्ध गाय आदि समझाये जाते हैं 'यह गाय है' इत्यादि, ऐसे ही आँखों में शरीर की जो परछाईं दीखती है उसे ही ब्रह्मा जी आत्मा कह रहे हैं।

इसी तरह देवराज इन्द्र पहली बार, दूसरी बार और तीसरी बार समझाये जाने पर ठीक नहीं समझ पाये किन्तु जब उनका स्वाभाविक कषाय विवेकविज्ञान का प्रतिबंध कर सकने जितना नहीं बचा तब चौथी बार बताने पर उसी ब्रह्म को समझने में सफल हुए जिसका उपदेश वास्तव में तो पहली बार ही उन्हें मिल गया था।

एक ही गुरु से लोक के विषय में सुनने वालों में कोई पूरा समझ लेता है, कोई आधा-अधूरा समझता है, कोई उल्टा समझता है और कोई समझ ही नहीं पाता। जब लोक के बारे में समझने वालों का यह हाल है तब अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व को कोई ग़लत समझ सकता है इसमें क्या कहना!

है-वादी, नहीं है-वादी सभी तार्किक आत्मा के बारे में परस्पर विलक्षण मत रखते हैं इसलिये भी आत्मा समझना कठिन हो जाता है।

इसलिये शिष्य अच्छी तरह निश्चितकर भी कहे 'ब्रह्म जान लिया' फिर भी वस्तु दुर्बोध होने के कारण आचार्य का शंकायुक्त हो यह कहना 'अगर समझ रहे हो' इत्यादि युक्तियुक्त ही है।

आचार्य ने कहा 'अगर तू समझ रहा है कि तू ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है तो निश्चित है कि तू ब्रह्म का थोड़ा ही रूप जान पाया है।'

प्रश्न होता है कि क्या ब्रह्म के बड़े और छोटे अनेक रूप हैं कि 'थोड़ा ही' आदि कहा गया? उत्तर है—हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधि से ब्रह्म के अनेक रूप हैं। बिना उपाधिपरामर्श के उसे खुद अनेक रूपों वाला नहीं कहा जाता।

शास्त्र ने उसके नाम-रूपों का इसी दृष्टि से निषेध किया है कि खुद वह उससे रहित है, भले ही उपाधिवश नाम-रूप वाला लगे। 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित जो नित्य अव्यय है उसके निश्चय से ही मोक्ष होता है' ऐसा कठोपनिषत् में कहकर जैसे शब्द, स्पर्श, रस, गंध का निषेध किया वैसे ही रूप का भी किया है।

शंका होती है : जिस भी धर्म से जिसका निरूपण किया जाता है वही धर्म उस निरूपणीय वस्तु का अपना 'रूप' कहा जाता है अतः ब्रह्म का भी जिस विशेषण से, धर्म से, निरूपण हो वही उसका रूप मानना चाहिये। आप पूछेंगे 'किस विशेषण से ब्रह्म का निरूपण होता है ?' अतः हम कहते हैं : पृथ्वी आदि किसी एक भूत का धर्म चैतन्य नहीं है, और न ही जब ये मिलकर देह बन जाते हैं तब ही चैतन्य इनका धर्म (विशेषण) होता है क्योंकि इनके गन्धादि धर्म जैसे इन्द्रियविषय हुए दीखते हैं, ज्ञात होते हैं, वैसे चैतन्य नहीं होता, जब कि इनका धर्म होता तो इन्हीं के अन्य धर्मों की तरह वह भी बाहर अर्थात् विषयतया दीखना चाहिये था। इतना ही नहीं, जैसे रूप भूतधर्म है तो भूतप्रकाशक नहीं है, ऐसे ही चैतन्य भी यदि भूतधर्म होता तो भूतप्रकाशक न होता। चैतन्य विषय बनता है नहीं और भूतप्रकाश करता है अतः वह भूतधर्म नहीं है यह निश्चित हो जाता है। श्रोत्रादि इंद्रियाँ, अंतःकरण व प्राण भी देह की तरह ही भूतकार्य हैं अतः चैतन्य उनका भी धर्म हो यह संभव नहीं। अतः इनसे भिन्न जो ब्रह्म है उसी का धर्म यह चैतन्य हो सकता है जो स्वतंत्र है अर्थात् अन्य किसी धर्मी से बँधा नहीं है।

चैतन्य से ब्रह्म का निरूपण किया जाता है, उसके सहारे ब्रह्म समझाया जाता है। स्पष्ट कथन है 'ब्रह्म विज्ञान (= चैतन्य) और आनन्द है', 'वह मानो मूर्तिमान् विज्ञान ही है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है', 'प्रज्ञान (= चैतन्य) ब्रह्म है।' इस तरह श्रुतियों में भी चैतन्य ब्रह्म का 'रूप' (निरूपक, असाधारण धर्म) कहा गया है। तब कैसे कहा कि स्वतः उसका कोई रूप नहीं?



यह ठीक है कि चैतन्य के सहारे ब्रह्म समझा जाता है फिर भी इतना निश्चित है कि विज्ञान आदि शब्दों से उसका निर्देश (=निरूपण) अन्तःकरण-देह-इन्द्रिय-उपाधियों द्वारा ही होता है।

देहादि के बढ़ने, घटने, कटने, नष्ट होने आदि पर आत्मा क्योंकि उनकी मानो नकल करता हो इसलिये उन देहादि उपाधियों द्वारा उसका निर्देश हो जाता है। खुद जो उसका चित्स्वरूप है वह उसके निरूपण के लिये सहारा बनता हो ऐसा नहीं।

वह स्वरूप तो जानकारों के लिये न जाना ही रह जाता है, जो जानकार नहीं बनते उन्हें उसके बारे में कोई गलत फ़हमी या गैर-जानकारी नहीं रह जाती। यह बात तीसरे मन्त्र द्वारा उपनिषत् समझायेगी।

'यत्' का 'रूपम्' से और 'अस्य' का 'ब्रह्मणः' से सम्बन्ध है।

अचार्य कहते हैं : मैंने 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि से समझाया तो तुझे यह भ्रम संभव है कि शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न जो वही ब्रह्म है। ऐसे ही जब मैंने कहा कि 'यदि ऐसा समझा है तो अल्प को समझा है', तब तुझे यह भ्रम हो सकता है कि देवताओं की शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न जो है वही ब्रह्म है। किन्तु जैसे अपनी उपाधियों में सीमित को समझना ब्रह्म को थोड़ा ही समझना है इसी तरह देवताओं की उपाधियों में सीमित को समझना भी उसके परिच्छिन्न रूप को ही समझना है। दोनों गलतियों से बचना चाहिये ऐसा मैं मानता हूँ।

देवताओं में भी जो समझता है 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' वह भी ब्रह्म को थोड़ा ही जानता है क्योंकि ब्रह्म तो सभी के लिये अविषय है।

या आध्यात्मिक और आधिदैविक उपाधियों से परिच्छिन्न जो ब्रह्म का रूप है वह अल्प ही है यह वाक्य की (पूर्वोक्त) योजना स्पष्ट ही है। अर्थात् जो अध्यात्म रूप है वह और जो देवताओं में अधिदैव रूप हैं, दोनों ही उपाधि

से सीमित होने से अल्पता से बच नहीं पाते।

दहर की अपेक्षा विलक्षण जो ब्रह्म—अपरिच्छिन्न—है उसमें किसी उपाधिरूप या उपाधिकृत विशेष का सम्पर्क नहीं है। न स्वभाव से और न किसी हेतु से उसमें किसी तरह का उतार-चढ़ाव आता है, वह प्रशान्त है। वह अनन्त, एक, अद्वैत, भूमा कहाने वाला नित्य है। विषय जैसे 'अच्छी तरह' जाने जा सकते हैं वैसे यह नहीं जाना जा सकता।

'क्योंकि निरुपाधि परमात्मा सुवेद्य नहीं है इसलिये मेरे विचार से तुझे अभी ब्रह्ममीमांसा करनी चाहिये', यह आचार्य की आज्ञा है।

'अथ नु' से श्रुति ने ही सूचित किया है कि मीमांसा कर्तव्य है इसमें कुछ कारण है। ब्रह्म का जो सुविदित (विषयवत् 'अच्छी तरह' जाना गया) रूप है वह उसका अल्प या औपाधिक रूप ही होता है, इसीलिये तो उसे विदित से अन्य कहा था, और शिष्य मान रहा है कि वह ब्रह्म को 'अच्छी तरह' जान रहा है, इसलिये निश्चित है कि उसे अभी ब्रह्म का अल्प रूप ही समझ आया है। यही कारण है कि उसे ब्रह्ममीमांसा अभी भी करते रहना चाहिये।—यह श्रुति का अभिप्राय है। विदित-अविदित का निषेध करने वाले वेदवाक्य के (१.३) अर्थ का अनुभव जब तक न हो जाये तब तक ब्रह्मविचार करते ही रहना चाहिये—यह श्रुति का अभिप्राय है।

## द्वितीय मन्त्र

आचार्य के निश्चय और अपने निश्चय की तुल्यता निर्धारित करने के लिये शिष्य अपने परिनिष्ठित, प्रमात्वेन निश्चित, और फलहेतुभूत विज्ञान की प्रतिज्ञा, उपस्थापना, कर रहा है। वह अपने अनुभव का गुरु के अनुभव से मिलान करना चाहता है यह इससे पता चलता है कि 'मन्ये विदितम्' कहकर चुप नहीं रह गया बल्कि 'समझ गया' ऐसा मानने में 'नाहं मन्ये' आदि हेतु बता रहा है।



आचार्य ने पूछा, 'कैसे कहते हो कि समझ गये ?' शिष्य ने कहा 'सुनिये, मन्त्र से बताता हूँ कि ऐसा क्यों कहा।'

**नाऽहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।२.२।।**

**अहम्** = मैं यह तो **न (अह)** = नहीं ही **मन्ये** = मानता **इति** = कि मैं ब्रह्म को **सुवेद** = 'अच्छी तरह' जानता हूँ, लेकिन **नो** = यह भी नहीं **मन्ये** = मानता **इति** = कि उसे **न** = नहीं **वेद** = जानता क्योंकि वेद = जानता तो हूँ ही **च** = पर 'अच्छी तरह' वाली जानकारी मैंने नहीं रखी है। **नः** = हममें से **यः** = जो **तद्** = मेरी ऐसी विलक्षण बात **इति** = कि **'नो न वेद, वेद च'** = 'न नहीं जानता, न 'अच्छी-तरह' जानता हूँ, फिर भी निरविद्य हूँ', **वेद** = समझता है वही **तद्** = श्रोत्रादि के श्रोत्रादिभूत ब्रह्म को **वेद** = समझने वाला **समझा** जा सकता है।

शिष्य कहता है 'मैं ऐसा नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को 'अच्छी तरह' जानता हूँ। 'अह' यह शब्द 'ही'—अर्थ बताया करता है अतः 'नहीं ही मानता' यह तात्पर्य है।

जब शिष्य ने कहा कि 'अच्छी तरह' जाना ऐसे नहीं मानता' तो किसी ने पूछ लिया 'तब क्या तुमने ब्रह्म जाना ही नहीं?'

'जब तक आत्मविज्ञान परिनिष्ठित नहीं हुआ था—जैसी स्थिति वाला होना चाहिये वैसा नहीं हुआ था—तब तक मुझे ऐसा ग़लत निश्चय था कि 'मैं ब्रह्म को' 'अच्छी तरह' जानता हूँ। जब आपने मुझे उस समझ के प्रति विचलित किया, उसकी सम्यक्ता पर सन्देह उत्पन्न कराया, तब जैसी शास्त्रादि में कही है वैसी मैंने मीमांसा की, विचारादि साधन किये। उसका फल हुआ कि मुझे स्वात्मा की ब्रह्मता का निश्चय हो गया, विषयरूप से उसकी उपस्थिति नहीं रही। यही सही प्रत्यय था अतः इससे विरुद्ध होने के कारण

जो पहले 'अच्छी तरह' जानता हूँ ऐसा मान बैठा था वह 'अच्छी तरह' समझना समाप्त हो गया। इसलिये कह रहा हूँ कि "अच्छी तरह" जानता हूँ ऐसा नहीं मानता।'

'नो न वेदेति' के बाद 'वेद च' कहा। 'वेद' अर्थात् जानता हूँ। 'च'—और—से कहा कि जानने पर भी वह है तो जाने गये से अन्य ही। पहले कहा 'न सुवेद' और अन्त में 'च' से भी 'न वेद' कहा तो क्या वह अविदित है? इस पर शिष्य कहता है 'नो न वेदेति'—'नहीं जानता' ऐसा मैं नहीं मानता। पूर्व में जो आपने उसे अविदित से अन्य कहा था, वह भी मुझे समझ आ गया है। गुरु ने पूछा कि 'फिर क्या मानता है?'

'वेद च'—'जानता हूँ, नहीं जानता', यही मेरा मानना है क्योंकि ब्रह्म न जानने का और न न जानने का विषय है।' तात्पर्य यही है कि शिष्य ने यही व्यक्त किया कि 'जैसी सही समझ होनी चाहिये वैसी मुझे हो चुकी है'।

या 'वेद च' से यह तात्पर्य समझ सकते हैं: 'नहीं जानता' ऐसा नहीं बल्कि जानता ही हूँ क्योंकि मेरा स्वरूप वह ब्रह्म है—या उस ब्रह्म का मैं स्वरूप हूँ—जो नित्यविज्ञान है, और स्वरूप कभी विकृत नहीं होता, बदलता या छूटता नहीं। किन्तु वृत्तिदशा में जो विशेष अनुभव है वह अनात्मभूत वृत्ति के सहारे ही अध्यस्त है, वह विशेषानुभव मैं खुद नहीं हूँ अतः उस अनुभव के बारे में तो कहूँगा कि 'नहीं जानता, वह अनुभव मेरा अव्यभिचरित स्वरूप नहीं है।'

गुरु पुनः विचलित करने की कोशिश करते हैं: अरे ! तुम ये आपस में विरुद्ध बातें क्या बोल रहे हो 'मैं नहीं मानता कि 'अच्छी तरह' जानता हूँ', 'नहीं जानता ऐसा भी नहीं', 'जानता हूँ ही' लेकिन 'नहीं जानता'? अगर 'अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा नहीं मानते तो 'जानता हूँ ही' यह कैसे मानते हो? और अगर 'जानता हूँ ही' मानते हो तो यह कैसे मानते हो कि 'अच्छी तरह नहीं जानता'? यह तो केवल संशय या भ्रम में हो सकता है कि एक



ही चीज़ जिसके द्वारा जानी जाये उसी के द्वारा वही वस्तु अच्छी तरह नहीं भी जानी जाये। संशय और भ्रम को छोड़ दें तो ये दोनों बातें आपस में विरुद्ध हैं। अगर यह नियम किया जा सकता कि ब्रह्म का संशय या भ्रम ही हो सकता है तब तो तुम्हारी जानकारी ब्रह्मज्ञान मानी जा सकती थी पर ऐसा नियम मानना संभव नहीं। प्रसिद्ध तो सब जगह यही है कि चाहे जिस विषय में हो, संशय और भ्रम से कोई पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता जब कि ब्रह्मज्ञान से परमपुरुषार्थ सिद्ध होना लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध है। अतः तुम्हारा कथन ब्रह्मज्ञान को व्यक्त करता नहीं प्रतीत होता।

आचार्य ने यों विचलित करने की कोशिश की पर शिष्य विचलित नहीं हुआ। 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है' इस आगम का जो सम्यक् प्रदान आचार्य ने उसे किया था उसी से शिष्य को काफी बल प्राप्त हो गया था और आचार्याज्ञा मानकर जो उसने मीमांसापूर्वक अनुभव किया था उससे तो वह अब बलिष्ठ हो चुका था, उसे जो ब्रह्मविद्या हुई थी वह संशय-विपर्यय नहीं बल्कि दृढ निश्चयरूप थी। अपनी ब्रह्मविद्या की यह निश्चयरूपता गुरु के संमुख निवेदित करते हुए पूर्वोक्त बल से मानो गरज कर कहने लगा: 'मेरे सहपाठियों में जो कोई मेरी बात सही-सही समझा है वही ब्रह्म को जानता है, जिसे ब्रहस्वरूप की जानकारी नहीं उसे मेरी बात समझ नहीं आनी।'

'यो नस्तद्वेद तद्वेद' यह कथन इसलिये है ताकि शिष्य ने जो समझ पायी है उससे अन्य कोई सही समझ परमात्मा की हो सकती है यह संभावना समाप्त हो जाये। क्योंकि शिष्य ने अपनी जानकारी बताते हुए भी 'नो न वेदेति वेद च' कहा था और उसे ही ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा ही समझा जा सकने वाला वाक्य मानकर दुहराया है, इसलिये वह इससे अन्य किसी जानकारी को ब्रह्मविज्ञान नहीं मान रहा यह पता चलता है। उसका कहना है 'हममें से जो उस ब्रह्म को विदित-अविदित से अन्य समझता है वही मेरी बात भी समझेगा, अन्य

नहीं। जैसा मैंने समझा है उससे अन्य अर्थात् किसी प्रकार से जो जानता है वह उपास्य ब्रह्म का ही जानकार है, परब्रह्म का नहीं।

वह कौन-सा वचन है जिसे सचमुच सिर्फ़ तत्त्वज्ञानी समझ सकता है? यही वचन है : 'नो न वेदेति वेद च'।

जो परमार्थ वस्तु 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है' (१.३) द्वारा आचार्य ने कही थी उसे ही अनुमान और अनुभव से उपोब्दलित कर अपने लिये निश्चित कर 'नो न वेदेति वेद च' इस अन्य वाक्य से शिष्य ने कही है। दोनों वाक्य एक ही वस्तु कह रहे हैं। कहा उसने इसलिये कि आचार्यप्रत्यय से अपने प्रत्यय का संवाद स्थापित किया जा सके और इसलिये भी कि आचार्य यह समझकर कि 'यह मन्दमति है, मेरा उपदेश नहीं समझा' मुझे समझाने के उपायान्तर ढूँढने में व्यग्र न हों। इन प्रयोजनों के कारण ही उसका गर्जन करना संगत है। आचार्य की बात से अलग बात कह रहा होता तो वह गर्जना संगत नहीं होती।

'वेद च' पर्यन्त के वाक्य से शिष्य न केवल आचार्य-प्रत्यय से संवाद स्थापित कर रहा है वरन् यह भी स्पष्ट कर रहा है कि इससे अन्य किसी पक्ष का समाश्रयण करने पर ब्रह्म की जानकारी नहीं हो सकती। यह बात कैसे निर्धारित होती है? इसलिये कि उसने पूर्वोक्त का ही पुनः कथन किया है। 'नो न वेदेति वेद च' यही उसने गुरु को जवाब दिया था और यही उसने फिर कहा कि यही वह वाक्य है जो तत्त्वज्ञ ही समझ सकता है। अतः पता चलता है कि वह पक्षान्तर में ब्रह्मज्ञाता नहीं हो सकती यह कह रहा है।

## तृतीय मन्त्र

'यस्याऽमतम्' आदि मन्त्र अख़्यायिका के तात्पर्य का उपसंहार करने के लिये श्रुति में आया है। 'केनेषितम्' से 'वेद च' तक शिष्य-आचार्य के सवाल-जवाब के ढंग से प्रचलित कथा में अनुभव और युक्ति की प्रधानता



रही। उस कथा से जो अर्थ निष्पन्न होता है उसे संक्षेप में यह मंत्र कहने जा रहा है। यहाँ सर्वथा नयी बात नहीं कहेंगे बल्कि जैसे परार्थानुमान की समाप्ति में पुनः कह दिया जाता है कि अमुक बात निश्चित हुई वैसे केवल कह देंगे कि गुरु-शिष्य के संवाद का सारार्थ यह हुआ। जिस तरह काव्यादि में कुछ वचन नायक के होते हैं, कुछ नायिका के और बाकी परिस्थिति आदि का वर्णन कवि का वचन कहा जाता है जब कि वास्तव में तो सारा ही काव्य कवि का ही वचन है उसी तरह यहाँ पूर्व ग्रन्थ शिष्य या आचार्य के वचन थे और अब श्रुति का वचन है। अतः इस मन्त्र में श्रुति शिष्य-आचार्य संवाद की शैली छोड़कर सारे संवाद से निष्पन्न अर्थ को अपनी तरफ से समझाती है।

वाणी आदि का अविषय होने से जिससे ब्रह्म को 'विदित से अन्य' कहा था, जिसकी मीमांसा की थी अर्थात् अनुभव तथा उपपत्ति से जिस ब्रह्म का निश्चय किया था, उसे उसी ढंग से जानना चाहिये यह हेतु-सम्मत बताने के लिये श्रुति स्ववचन से कह रही है।

**यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।२.३।।**

**यस्य** =जिसे ब्रह्म **अमतम्** = विदित नहीं है **तस्य** = उसे **मतम्** = वह सही समझ आया है; **यस्य** = जिसे वह **मतम्** = विदित लगता है **सः** वह **न** = नहीं **वेद** = जानता। **विजानताम्** = अनुभवी विद्वानों के लिये **अविज्ञातम्** = ब्रह्म विज्ञात से अन्य रहता है। **अविजानताम्** = जिन्हें सही जानकारी नहीं है उन्हीं के लिये **विज्ञातम्** = वह विज्ञात है।

ब्रह्म समझने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रवृत्त हुए जिस साधक ने ब्रह्म-ज्ञान वास्तव में प्राप्त किया है उसका तो यह निश्चय रहता है और वह साभिप्राय यह मानता है कि ब्रह्म अविज्ञात है अर्थात् विदित से अन्य ही है। 'उसे ब्रह्म

अमत अर्थात् अविज्ञात या अविदित है' यह कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ग्वाले आदि की तरह वह ब्रह्म से बेखबर है बल्कि तात्पर्य है कि उसकी विविदिषा इसलिये निवृत्त हो चुकी है क्योंकि उसका अवबोध 'ब्रह्म आत्मा है' यह निश्चयरूप फल देकर समाप्त हो चुका है। इस तरह जिसे ब्रह्म अमत है उसे ही ब्रह्म मत है, उसी ने ब्रह्म ठीक समझा है। 'तस्य मतम्' का अर्थ है कि उसे ब्रह्म-सम्बन्धी कोई अज्ञान नहीं रह गया है। जिसने अविषय आत्मा रूप से प्रतिबोध पाया है उसे ही ब्रह्म ज्ञात है। विज्ञान के बाद बिना किसी अन्तराल के ही जिसे ब्रह्मात्मता पूर्ण निश्चित होने से जिसके लिये किसी तरह का कार्य नहीं रह गया है वह सम्यग्दर्शी है।

उक्त ब्रह्मवेत्ता की समझ से उल्टा जो जानता है वह गलत ज्ञान वाला है। उल्टा जानने वाला ग़लत समझता है यह कैसे ? क्योंकि श्रुति कह रही है कि 'मैंने ब्रह्म जान लिया, मेरे द्वारा वह विषय कर लिया गया है' ऐसा जिसे निश्चय है उसे ब्रह्मविज्ञान नहीं है। सही विज्ञान में ब्रह्म 'जाना गया' नहीं होता अतः जो उससे उल्टी जानकारी है कि 'ब्रह्म मुझसे 'जाना गया' हो गया' वह ग़लत जानना ही है। इससे निश्चित है कि विपरीत विज्ञान वाले को मिथ्या दर्शन ही हुआ है। ब्रह्म क्योंकि विदित से अन्य है इसलिये विदित को ब्रह्म समझना भ्रम ही संभव है। भ्रान्त को अज्ञानी ही कहना उचित है अतः श्रुति ने कह दिया 'वह नहीं जानता।'

इसलिये सिद्ध होता है कि वेदविरुद्ध अनुभव मिथ्या है। वह ब्रह्म के बारे में होता नहीं अतः उसकी निन्दा भी की गयी है जिससे पता चलता है कि वह मिथ्या है। कपिल, कणाद आदि के सिद्धान्त भी विदित ब्रह्म को ही विषय करने से मिथ्या हैं। उन वादों की उत्पत्ति तर्क से हुई है। और तर्क टिकाऊ नहीं होता, इसलिये भी वे मिथ्या हैं। इतना ही नहीं उन दर्शनों से ब्रह्म को जानने की इच्छा पूरी होती नहीं इससे भी उनका मिथ्या होना निश्चित है।

'जो वेद-विरोधी स्मृतियाँ और कुदृष्टियाँ हैं उन सभी को निष्फल कहा



गया है क्योंकि वे तमोनिष्ठ मानी जाती हैं'--इति स्मृतिवचन से भी अवैदिक विज्ञानों का मिथ्यात्व निर्धारित होता है। विपरीत समझना और मिथ्या अर्थात् ग़लत समझना दोनों अभीष्ट न होने से ब्रह्म के सम्बन्ध में जो विपरीत और जो मिथ्या जानकारी दे वे निष्फल और तमोनिष्ठ माने जायें यह ठीक ही है।

विद्वत्पक्ष और अविज्ञपक्ष को जैसा बताया वैसा स्वयं श्रुति उन्हें उत्तरार्ध से निश्चित करती है--जिन्होंने सम्यक् अर्थात् अज्ञान, अन्यथाज्ञान, संशय आदि से रहित होकर समझा है वे ब्रह्म को विदित से अन्य ही पाते हैं। जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है वे ब्रह्म को विदित माने रहते हैं। सम्यग्दर्शन नहीं इसलिये हो पाता कि वे इन्द्रिय-मन-बुद्धि को ही आत्मा समझते रहते हैं।

जो लोग इन्द्रियादि किसी को पारमार्थिक आत्मा समझे बैठे हैं उन्हीं को श्रुति अविज्ञ कह रही है न कि उन्हें जिनकी मति कुछ-भी सोचने-समझने लायक नहीं है क्योंकि ऐसे जो सोचविचार से विहीन सामान्य लोग होते हैं वे 'हमने ब्रह्म को जान लिया' ऐसा नहीं समझा करते। जो लोग इन्द्रिय, मन, बुद्धि उपाधियों को 'यही वास्तविक आत्मा (अतः ब्रह्म) है' ऐसा समझ लेते हैं उन्हीं का यहाँ उल्लेख है। ब्रह्म और उपाधि में जो अन्तर है वह समझ न पाने से इन्हें उपाधि में आत्म-बुद्धि हो जाती है। बुद्धि आदि उपाधि विज्ञात ही है, दृश्य ही है, चिद्भास्य ही है, अतः 'हमें ब्रह्म विदित हो गया' ऐसा इन्हें भ्रम हो जाता है। इसलिये इन्हें जो असम्यग्दर्शन, ग़लत फ़हमी हैं उन्हें पूर्वपक्ष रूप से यहाँ रखा 'अविज्ञों को विज्ञात' है कहकर।

पहले तो पूर्वोक्त विज्ञ-अज्ञ पक्षों को निश्चित करना उत्तरार्ध का प्रयोजन कहा था। विकल्पतः यह भी समझना चाहिये कि 'अविज्ञातम्' आदि उत्तरार्ध पहले कही गयी बात में हेतु बताने के लिये है, सिर्फ़ अनुवाद रूप हो तब तो निष्प्रयोजन हो जायेगा। निष्फल पुनरुक्ति दोष मानी जाती है अतः यहाँ पुनरुक्ति को सफल समझना चाहिये इसलिये यह मानना संगत है कि 'विजानताम्' से सही ज्ञान वालों को और 'अविजानताम्' से ग़लत ज्ञान वालों

को क्यों कहा।

क्योंकि जो ब्रह्म के जानकार हैं वे उसे अविदित ही समझते हैं कारण कि वह आत्मा होने से विषय है नहीं, इसलिये उन्हें जो जानकारी है वही ठीक ज्ञान है। जो ब्रह्मसाक्षात्कार से रहित हैं वे क्योंकि जो व्याकृत प्रपंचात्मक बुद्धि आदि हैं उन्हें ही ब्रह्म समझते हैं इसलिये मानते हैं कि ब्रह्म विदित है। वास्तव में ब्रह्म विदित-अविदित दोनों से अन्य है, प्रत्यग्रूप है, कालनिरपेक्ष अनुभूति—यों उसे समझ सकते हैं, वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है, किसी परिवर्तन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, किसी अभाव की उसमें कोई प्रतियोगिता नहीं अर्थात् कैसा भी न होना ब्रह्म का नहीं होता, निर्विशेष होने से विशेषण-न्यूनता उसमें नहीं आ पाती, अद्वितीय होने से वह निर्भय है, हम से अन्य न होने से वह हमारा विषय नहीं है। किन्तु इस तथ्यपुंज से जो अनभिज्ञ हैं उनके लिये ब्रह्म हमेशा विज्ञात है क्योंकि बुद्धि आदि जो सचमुच हैं विषय, तत्स्वरूप ही वे ब्रह्म को समझते हैं। इसलिये विदित, अविदित, व्यक्त, अव्यक्त आदि किसी भी धर्म के आरोप के कारण जो ब्रह्म का सविकल्पक अर्थात् सविशेष (सप्रकारक) ज्ञान है, या कार्यमात्र का कारण मानकर उसका कारणत्वेन—कारणत्वविकल्प वाला—ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान ही है क्योंकि वह जिसे विषय करता है वह सविकल्पक वस्तु वास्तव में आत्मा है नहीं। जैसे सीप आदि को चाँदी आदि समझना भ्रम है ऐसे ही सविकल्प को ब्रह्म समझना भ्रम है।

## चतुर्थ मन्त्र

पिछले मन्त्र में यही निश्चित किया कि वास्तविक जानकारों को परमात्मा अविज्ञात है किन्तु यदि उन्हें ब्रह्म बिलकुल ही अननुभूत हो तो सामान्य लोकों में ('लोक' एक जातिविशेष है जिनमें पठन-पाठनादि आज भी नहीं जैसा ही है) और शास्त्रादि में प्रशंसित ब्रह्मवेत्ताओं में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा।



साथ ही साधनानुष्ठान व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इतना ही नहीं, उन्हें विज्ञान वाला कहा और उनके प्रति उसे अविज्ञात कहना आपस में विरुद्ध बात है जैसे कोई कहे 'मुझे बद्रीनारायण की मूर्ति दीखी तो नहीं पर मैंने देख ली'! ऐसी वदतोव्याघात वाली बात से तो कुछ समझना संभव नहीं। यह मान लिया कि ब्रह्म में विज्ञाततारूप कोई धर्म न होने से उसे अविज्ञात कहा फिर भी यह बताना चाहिये कि उन्हें ब्रह्म की कैसी जानकारी है कि उन्हें सम्यग्ज्ञान वाला श्रुति ने माना। अतः इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर चौथा मंत्र प्रवृत्त हो रहा है।

**प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥२.४॥**

जब **प्रतिबोधविदितम्** = प्रतिबोध —अर्थात् प्रत्ययों का प्रत्यगात्मा—ब्रह्म समझा जाता है तब **मतम्** = वह निर्दुष्ट जानकारी है **हि** =क्योंकि इसी जानकारी से **आत्मना** =आत्मरूप से **अमृतत्वम्** =मोक्ष **विन्दते** = मिलता है। **विद्यया** = आत्मविद्या से ही **अमृतम्** = वह अविनाशी **वीर्यम्** = बल **आत्मना** = आत्मा से अभिन्न हुआ **विन्दते** = प्राप्त होता है, जो अविद्या-तत्कार्य से अप्रतिहत रह कर उसे निःशेष समाप्त कर देता है।

बोध-बोध में अर्थात् दरबोध जो विदित है उसे प्रतिबोधविदित कहा है, प्रतिबोध-शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि इससे पता चले कि हर बोध आत्मा समझने का तरीका बन सकता है। निरन्तर पुनः पुनः होने वाले अनेक व्यक्तियों को इकट्ठा कर संख्या-विवक्षा छोड़कर कहना हो तब ऐसे प्रयोग करते हैं, जैसे प्रतिदिन। इससे जो अर्थ प्रतीत होता है उसमें बोध या दिन शब्द-अर्थ बार-बार चलने वाली शृंखला भासती है। इस पौनः पुन्य (बार-बार होते रहने) को वीप्सा कहते हैं। इस तरह जब आत्मा को दरबोध विदित कहा तो हर बोध का आत्मा से सम्बन्ध भी कह ही दिया गया जैसे 'दरबाल्टी खीर रखी है' से पता चलता है कि प्रत्येक बाल्टी में खीर का संयोग है। यह

कहने का अभिप्राय श्रुति का है कि हर बोध आत्मा को समझने का मानों दरवाजा है अर्थात् उपाय है। आत्मा बोध के अभिमुख है अर्थात् बोध की ओर मुँह किये हुए है, बोध उसके (=मेरे) सामने ही पड़ता है, बोध उसका विषय होता है। इस बोध के भी आत्मा प्रतिमुख है, उस बोध के भी, और बोधों के भी; वीप्सा के कारण पता चला कि सारे ही बोधों के वह अभिमुख है। सब बोधों को व्याप्त अर्थात् विषय करता है। यही बोधों से उसका सम्बन्ध है।

श्रुति में 'बोध' शब्द से बुद्धि की वृत्तियाँ कही गयी हैं। सभी वृतियाँ जिसका विषय बनती हैं, जिसके सामने आती हैं, वह आत्मा सब बोधों के प्रति—बोधों की ओर मुँह करने वाला—समझा जाता है। वह सभी बोधों का दर्शक है।

खुद वह केवल ऐसा 'स्व' है जिसमें कह सकते हैं कि ऐसी शक्ति है कि प्रत्ययों में चेतना हो जाती है। बोधों के साथ ही, बोधों से अलग हुए बिना, उनमें अनुगतरूप से, उनसे एकमेक हुआ यह दीखता है अतः बोध ही आत्मा को देखने का दरवाजा है, और कोई दरवाजा नहीं।

तपा लोहा आग से व्याप्त हो जाता है इसलिये लगता है वही आग है, लोहे और आग का कोई फ़र्क नहीं लगता। इसी तरह बुद्धि की सभी वृत्तियाँ, बोध, नित्य-विज्ञान-स्वरूप आत्मा से व्याप्त हैं इसलिये विज्ञानस्वरूप लगते हैं, बोधों से अलग विज्ञान कुछ नहीं लगता। वह जो बोधरूप अवभास है, विज्ञान है, उससे अन्य ही कोई अवभास है जो आत्मा का स्वरूप है। बोधरूप अवभास से आत्मा विलक्षण ही है। लेकिन यह बात उन बोधों से ही—पदार्थ और वाक्यार्थ विषयक बोधों से—उस बोधरूप अर्थात् बोध से एकमेव हुए विज्ञान को समझने से ही समझी जाती है अतः आत्मा की उपलब्धि में वे द्वार बन जाते हैं। यद्यपि आग लोहे या किसी भी ईंधन से एकमेव हुई ही दीखती है तथापि उसी रूप को सही तरह देखकर अग्नि-मात्र समझ आ जाती



है, इसी प्रकार यहाँ है।

इसलिये हर बोध का अवभास करने वाला 'प्रति' प्रकाशमान आत्मा है—बस इसी तरह जो समझा जाये उसे भूमतत्त्व से सर्वथा अभिन्न समझना है। यही श्रुति को संमत है, यही तत्त्व, यही तत्त्वज्ञान और उसकी प्रक्रिया आचार्यों को ज्ञात है। प्रत्यक् साक्षी ही परमात्मा है यह निर्दोष अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है। जिस बोध में परमात्मा विषय बने वह ठीक ज्ञान नहीं है क्योंकि आत्मा होने से ब्रह्म विषय बन नहीं सकता। 'प्रत्यगात्मा को देखा' ऐसा कठोपनिषत् में भी कहा है। क्योंकि श्रुतिसमन्वय से भी यही सिद्ध होता है इसलिये बोधों के प्रत्यग्-आत्मा रूप से जब ब्रह्म समझा जाये तब वह समझ श्रुत्यादि को जैसी स्वीकृत है वैसी होती है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन है।

आत्मा क्योंकि सभी बोधों का दर्शी है इसलिये ये सब बातें सिद्ध होती हैं :

(१) वह ऐसा दृक्स्वरूप है जिसका न जन्म है न विनाश।

(२) वह नित्य है।

(३) विशुद्ध जो 'स्व', वही उसका 'रूप' है।

(४) वही आत्मा है।

(५) आत्मा में कोई विशेष नहीं है।

(६) सभी भूतों में वह एक है।

क्योंकि वह 'प्रति' निर्विशेष है इसलिये उसमें विभिन्न लक्षण हैं नहीं जिनसे वह हर प्राणी में अलग है यह कहा जा सके। जैसे आकाश, घड़ा, पहाड़ी गुफा, शहरी मकान आदि में अलग-अलग नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवकाशरूप वह सर्वत्र एक मिलता है ऐसे ही दृक् एक मिलने से प्राणियों में विभिन्न दृक् नहीं कहे जा सकते।

इस तरह समझने पर जो यह आगमवाक्य था कि 'ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है' उसका उपसंहार पूरी तरह अनात्मविलक्षण तत्त्व में ही है यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है। 'दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता, विज्ञाति का विज्ञाता' ऐसा अन्य श्रुतिवचन है ही।

कुछ लोग ऐसी व्याख्या करते हैं : बोध या ज्ञान एक क्रिया है, धात्वर्थ है, जिसका कर्ता आत्मा है। अतः जैसे 'जो पेड़ों की डालियाँ हिलाता है वह वायु है' यों क्रिया से उसका कर्त्ता पता चलता है ऐसे ही बोधरूप क्रिया वह असाधारण चिह्न है जिससे उसका कर्त्ता आत्मा जाना जाता है। अतः 'बोधरूप चिह्न से जाना गया' यह 'प्रतिबोधविदितम्' का अर्थ है। हर बोध से उसका पता चलने के कारण उसे प्रतिबोधविदित कहा।

इस व्याख्या में ग़लती है—ऐसी व्याख्या करेंगे तो आत्मा बोधरूप क्रिया के सामर्थ्य वाला द्रव्य ही सिद्ध होगा, वह स्वरूप से बोध ही है यह श्रुतिसंमत बात सिद्ध नहीं होगी। क्रिया होने से बोध अनित्य ही रह सकता है। जब बोध पैदा होगा तब उस क्रियारूप विशेष वाला आत्मा हो जायेगा। या क्रियारूप कार्य का कर्ता बनेगा तो आत्मा में कोई विशेषता भी माननी पड़ेगी जिससे कारणता आत्मा में ही नियत रहे अर्थात् कारणता का अवच्छेदकरूप विशेष आत्मा में क्रियारूप कार्य के साथ ही मानना पड़ेगा। फिर जब बोधरूप क्रिया समाप्त हो जायेगी तब उस (बोधादिरूप) विशेष से रहित हुआ बोधहीन द्रव्यमात्र आत्मा रह जायेगा। इस मान्यता में आत्मा परिवर्तनशील, अतः अवयवों वाला, अकूटस्थ, अशुद्ध इत्यादि होगा जो वैदिकों को इष्ट नहीं।

कणाद महर्षि के अनुयायी मानते हैं कि आत्मा से मन का संयोग-विशेष होने से बोध या ज्ञान नामक 'गुण' उत्पन्न होता है जो 'समवाय' नामक सम्बन्ध से आत्मा में रहता है। क्योंकि आत्मा में समवाय से पैदा हुआ बोध रहता है इसलिये आत्मा बोद्धा—जानकार—है, न कि किसी विकार के—अवयवविन्यास



के हेरफेर के—कारण। वह तो केवल द्रव्य है अतः जैसे घड़े में लाल आदि रंग समवाय से रहता है, पकने आदि से रंग बदलता है पर घड़ा वही बना रहता है, 'घड़ा बदल गया' यह नहीं कह सकते, ऐसे ही गुण बदल जाता है पर आत्मा विक्रियारहित रहता है।

इस पक्ष के अनुसार 'बोधरूप चिह्न से आत्मा विदित है' यह अर्थ करने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होगा—यह शंका है।

उक्त मत में सबसे मुख्य दोष है कि श्रुतियों का बाध होता है। श्रुतियाँ अनेक जगह तात्पर्यतः स्पष्ट करती हैं कि परमात्मा ज्ञान है, आनन्द है। इन तार्किकों की मान्यता है कि वह ज्ञान नहीं है, ज्ञान से अन्य ही एक द्रव्यमात्र है, घड़े आदि की तरह एक पिण्ड-सा है। अतः श्रुति का विरोध करने वाला होने से यह मत अत्यन्त अनास्था करने योग्य है।

आत्मा अवयवरहित है अतः मनःसंयोग के योग्य कोई प्रदेश उसमें है नहीं कि ज्ञानोत्पादक संयोगविशेष संभव हो। सर्वगत होने से संयुक्त मानो तो मन आत्मा से हमेशा ही संयुक्त मानना पड़ेगा और तब याद आने का जो क्रम-नियम है वह संगत नहीं किया जा सकेगा। संयोग-गुण वाला आत्मा को मानना श्रुति-स्मृति-न्याय से विरुद्ध है। 'वह असंग है, संग वाला नहीं होता', 'सबका भर्ता परमात्मा संगरहित है' ये दो श्रुति-स्मृति स्पष्ट ही विरुद्ध हैं। लोक में देखा गया है कि गुणवान् का गुणवान् से संसर्ग होता है, असमान जाति वाले परस्पर संयोग नहीं करते। अतः गुणों से रहित, सभी विशेषताओं से वर्जित, समस्त दृश्य से हर तरह विलक्षण परमात्मा अपने से असमान जाति वाले किसी भी पदार्थ से सम्बद्ध होता है यह बात युक्ति से विरुद्ध है।

इस प्रकार यही निश्चित हुआ कि जब सब बोधों का बोद्धा, 'प्रति', आत्मा कहा जाये तभी यह शास्त्रसंमत बात सिद्ध होती है कि नित्य, कभी व्यभिचरित न होने वाला विज्ञान, स्वरूप, ज्योतियों की ज्योति, आत्म-शब्द का अर्थ जो

तत्त्व है वह ब्रह्म है। इसलिये हमने पहले ही जैसा व्याख्यान किया, 'प्रतिबोधविदितम्' का वही अर्थ शास्त्र-युक्ति से समर्थित है।

कुछ विचारक 'प्रतिबोधविदितम्' से स्वसंवेद्यता समझते हैं। उनके अनुसार यहाँ उपदिष्ट आत्मतत्त्व उपाधियुक्त ही हो सकेगा। 'आत्मा से (खुद से) आत्मा को (खुद को) जानता है' यह जो समझा और कहा जाता है वह पहली बार कहे आत्मा से दूसरी बार कहे आत्मा में भेद की कल्पना कर कहा-समझा जाता है। बुद्धि आदि उपाधियों को आत्मा मानकर उस रूप से आत्मा को आत्मा से अलग कर लेते हैं। जैसे घटाकाश को आकाश से अलग समझकर कहते हैं 'घटाकाश भी आकाश में है'। लोक में ही नहीं शास्त्र में भी 'आत्मा से ही आत्मा को देखता है', 'खुद ही आप अपने को जानते हैं' आदि प्रयोग होते हैं जिन्हें इसी तरह समझना चाहिये, उपाधिपरिच्छेद भूल जायें तो उपाधिसम्पर्कशून्य अखण्ड आत्मा न स्वसंवेद्य है न परसंवेद्य यह स्वप्रकाशतावाद में (१.३) पहले बता आये हैं।

आत्मा संवेदनरूप है, ज्ञानात्मक है, अतः यह संभव नहीं कि उसे किसी अन्य संवेदन की जरूरत पड़े। जैसे प्रकाश को दूसरा प्रकाश नहीं चाहिये होता ऐसे ज्ञान को अन्य ज्ञान ।

बौद्ध लोग जिस तरह विज्ञान को स्वसंवेद्य मानते हैं उस तरह मानने से ही उन्हें विज्ञान क्षणभंगुर और निरात्मक स्वीकारना पड़ता है। हम वैसा नहीं मानते क्योंकि तब श्रुतियों का बाध होगा। वेद स्पष्ट कहता है 'जानने वाले की जानकारी कभी हटती नहीं क्योंकि जानकारी अविनाशी है', 'विभु सर्वगत आत्मा नित्य है', 'आत्मा महान् है, जन्मरहित है, जरा-मरण से वर्जित है अमृत अर्थात् अबाध्य है, निर्भय है' इत्यादि।

कुछेक विचारक 'प्रतिबोध' से निर्निमित्त ज्ञान समझते हैं जैसा सोये व्यक्ति को बिना निमित्त के आनंदादि बोध होता है।



अन्य व्याख्याता उस विज्ञान को प्रतिबोध समझते हैं जो एक बार होते ही तुरन्त मुक्तिहेतु बन जाने से पुनः नहीं होता।

बिना निमित्त के हो, निमित्त से हो, एक बार हो, बार-बार हो, है तो प्रतिबोध ही!

'अमृतत्वं हि विन्दते' यह प्रतिबोधविदित की जानकारी ही सम्यक् है इस बात में हेतु बताने के लिये कहा है क्योंकि इस आत्मतत्त्व को ग़लत जानने से मौत के मुँह में पड़ना पड़ता है। जो वास्तव में विषय हैं, चिद्भास्य अतः अनात्मा हैं, उन्हें 'मैं' समझने से या अपने से भिन्न किसी वस्तु को उपास्यादि रूप से पारमार्थिक आत्मा समझने से मौत ही होती है क्योंकि इन दोनों ही समझों से 'मैं कर्त्ता हूँ' यह भ्रान्ति तो हटती नहीं और कर्तृत्वाभिमान रहते फलभोग अनिवार्य है। बुद्धि आदि अनात्मा को 'मैं' समझने से तो हर बार बुद्धि आदि कुछ हिस्सा जब शरीरादि हिस्से से विलग होंगे तब 'मैं मरा' यह लगेगा ही अतः मौत से नहीं छूट सकते। भिन्न को वास्तविक मानेंगे तो भी डर बना ही रहेगा क्योंकि दूसरे से हमेशा ही डर लगता है। भय न हटना ही मरते रहना है।

विषय को आत्मा समझना उल्टी समझ है अतः जो अविषय है उसे आत्मा समझना सही समझ है यही युक्त है। 'आत्मवेत्ता शोकसागर से पार हो जाता है' इत्यादि श्रुति भी आत्मसाक्षात्कार को ही अमरता का हेतु कहती है, विषयविज्ञान को नहीं। इसलिये यहाँ भी श्रुति जिसे अमरता का हेतु कह रही है वह विज्ञान आत्ममात्र के याथात्म्य का साक्षात्कार ही हो यही ठीक है। अतः प्रथम पाद में कही बात में दूसरे पाद से हेतु दिया गया है यह समझना चाहिये।

प्रतिबोधविदितरूप जो पूर्वोक्त प्रतिबोध अर्थात् समझ है उससे अमृतत्व मिलता है इसलिये कहा कि तभी सम्यग्दर्शन है जब प्रतिबोधविदित अर्थात्

प्रत्ययों का प्रत्यगात्मा ब्रह्म समझा जाता है।

अमृतत्व से यहाँ मरण-भिन्न भाव अर्थात् सत्स्वरूप कहा गया है देवतादि योनिविशेष की प्राप्ति नहीं। यह मोक्ष है। अपना जो पारमार्थिक आत्ममात्र है, वही बने रहना अमृतत्व है।

क्या यह मोक्ष आत्मज्ञान से उत्पन्न होता है? नहीं! तो फिर 'तरति शोकम्' आदि श्रुतियों में 'बुद्धिमान् कृतकृत्यः' आदि स्मृतियों में तथा 'पुरुषार्थोऽतः' आदि न्यायों में आत्मज्ञान अमृतत्व के निमित्त रूप से कैसे प्रसिद्ध है? आत्मज्ञान मरण-भ्रम हटाता है अतः मोक्ष जो अमरणरूप है वह आत्मविज्ञान के सापेक्ष समझा जा सकता है इसलिये शास्त्रों में प्रसिद्धि संगत है।

'आत्मना विन्दते' खुद-रूप से अर्थात् सनातन आत्मरूप जो हमारी सत्ता है तन्मात्र ही जो अमृतता है वही 'प्राप्त' होती है, उसकी अप्राप्ति का भ्रम हटता है। किसी उपास्य का सहारा लेकर उसकी उपासना से साध्यरूप प्राप्ति नहीं है। बोध का प्रत्यगात्मा को विषय करना—यह अमृतत्व में हेतु माना गया है। यदि अमृतत्व विद्या से भी उत्पाद्य हो तो कर्मकार्य की तरह अनित्य ही होगा अतः उसे बोधजन्य नहीं मानते। मोक्ष अपने से भिन्न किसी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है : यदि आत्मा से अन्य कोई आसमान से भी ऊपर रहने वाला परमात्मा हो और तद्रूप बनना आत्मा का मोक्ष हो तब तो मतलब होगा कि आत्मा अनात्मा (=आत्मा से अन्य) बने तब मुक्त हो। किन्तु यह तो अमृतता नहीं कही जा सकती। क्योंकि परमात्मा भी आत्मा ही है इसलिये जीवात्मा की अमृतता स्वभाव-सिद्ध है, किसी निमित्त से नहीं है।

यदि इस तरह अमृतत्व स्वाभाविक ही है, आत्मा को आत्मरूप से ही बने रहना है, यही प्राप्ति है, कुछ नया नहीं मिलना, तो विद्या क्या करती है?

बताते हैं : अविद्या से देहादि को आत्मा समझ बैठना—यह आत्मा का मर्त्य होना है। इस ग़लत फ़हमी का मूल जो आत्मा का अनादि अनिर्वचनीय



अज्ञान है जिसके कारण अनात्मा को आत्मा समझा जाता है, उसे विद्या हटा देती है, उसका बाध कर देती है। अविद्या हटने से स्वाभाविक अमृतत्व भासमान बना रहता है। विद्या को अमृतता का निमित्त इसीलिये कह दिया जाता है कि वह उस अविद्या को हटाती है जिससे लग रहा था मानों आत्मा मर्त्य है।

क्योंकि श्रुति कह रही है कि विद्या से वीर्य, सामर्थ्य, मिलता है इसलिये समझ आता है कि विद्या के कारण वह बल हमें प्राप्त हो जाता है जो अज्ञान को पुनः होने नहीं देता। जैसी बतायी गयी वैसी आत्मविद्या से अमरता कैसे मिलती है ? इसका उत्तर देते हैं : विद्या के कारण 'आत्मना' अर्थात् खुद रूप से बल अर्थात् सामर्थ्य मिलता है जिससे निश्चित है कि मोक्ष समाप्त नहीं होता।

विद्या से मिलने वाले सामर्थ्य का असाधारण स्वरूप वह आत्मा है जो विद्या के निमित्त से ऐसा बन चुका है कि इन तीन से अभिभूत होने योग्य नहीं रह गया—१. अनात्मा का अध्यास; २. माया ; ३. हमें मानो खत्म करने वाला अंधेरा।

उस वीर्य की और क्या ख़ासियत है? वह अमृत अर्थात् ऐसा है कि कभी लुप्त नहीं होता। देव-मानुष वित्त, जीवान्तर की सहायता, मन्त्र, दया, शरीर मन से अधिकाधिक सहन कर जाना, चित्तवृत्तियों को निरुद्ध कर लेना—इनसे जो बल मिलता है वह क्योंकि खुद अनित्य चीजों से पैदा हुआ है इसलिये मृत्यु को अभिभूत नहीं कर सकता। अविद्या से उत्पन्न सामर्थ्य का नाश अनिवार्य है क्योंकि परमार्थविद्या से अविद्या बाधित ही होने लायक है। विद्या का तो कोई बाधक है नहीं अतः विद्याप्रयुक्त बल ऐसा है जिसकी कभी अस्फूर्ति नहीं होती।

आत्मविद्या-प्रयुक्त बल आत्मरूप से ही प्राप्त होता है, आत्मा से अन्य

हुआ कोई बल आत्मा को मिलता हो ऐसा नहीं। क्योंकि आत्मविद्यानिमित्तक बल अन्यभूत साधन नहीं है, आत्मरूप ही है, इसलिये वही मृत्यु को अभिभूत करता है, अन्य कोई बल मृत्यु को अभिभूत नहीं करता।

आत्मरूप से बल देने वाली होने से विद्या अमृतत्व में सिर्फ़ निमित्त है, जनक हेतु नहीं, स्वरूपभूत अमृतत्व का काल्पनिक आवरण हटाने वाली होने से उसे निमित्त कहा जाता है। 'यह आत्मा बलहीन को नहीं मिलता' आदि अथर्ववेद का वचन भी आत्मप्राप्ति में इसी बल की आवश्यकता कह रहा है, भुजबल, धनबल, योगबल आदि की नहीं। लोक में भी ज्ञानबल अन्य बलों को दबाता देखा गया है जैसे हाथी आदि का देहसामर्थ्य अत्यधिक होने पर भी बुद्धिपूर्वक उसे नियंत्रित करने वाला मनुष्य उसे दबा लेता है।

इस तरह क्योंकि आत्मज्ञान से आत्मरूप हुआ बल ही मिलता है इसलिये आत्मविषयक परा विद्या अमरता देने वाला इकलौता उपाय है। वह न केवल मोक्ष देती है वरन् उसकी सुरक्षा के लिये जरूरी अविनाशी बल भी देती है। बिना बल के तो आत्मा का ध्रुव लाभ संभव नहीं यह अथर्ववाक्य बताता ही है।

अतः 'अमृतत्वं विन्दते' को जो 'हेतुवचन' कहा था वह सुसंगत है क्योंकि प्रत्यगात्मरूप से ब्रह्मसाक्षात्कार ही सम्यग्ज्ञान है इस प्रतिज्ञा के लिये यह हेतु सबल है कि विद्या से अमृतता मिलती और सुरक्षित रहती है।

एक विकल्प है कि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' का अर्थ है : हमारे लिये हमेशा उल्टा आचरण करने वाला है मन अतः वह विपरीत कहा जाता है। जिस साधक का 'विपरीत' बच नहीं गया है अर्थात् मनोनाश हो चुका है और जिसने संस्कारों का निरास कर लिया अर्थात् वासनाक्षय कर लिया है उसे जो सपने से जगने की तरह एक ही बार में ज्ञान होता है वही वास्तविक समझ है।

एक यह भी विकल्प है कि गुरु के उपदेश को प्रतिबोध माना जाये,



उससे विदित को प्रतिबोधविदित समझें। इन दोनों अर्थों में प्रतिबोध-शब्द का प्रयोग होता है—सोया व्यक्ति प्रतिबुद्ध हो गया अर्थात् जग गया, गुरु द्वारा यह प्रतिबोधित हो गया अर्थात् समझा दिया गया है।

सबसे पहले जो व्याख्या बतायी थी वही यथार्थ है।

### पञ्चम मन्त्र

परमार्थतत्त्व न जानने से अत्यन्त कष्टमय स्थिति हमारी है चाहे देवतादि श्रेष्ठ योनियों में जन्म हो, चाहे मध्यम मनुष्य योनि में या निकृष्ट जानवर, भूत-प्रेतादि योनियों में, हैं सब जन्म संसार के अन्तर्गत ही। संसार में बहुतायत सिर्फ़ दुःख की है। जरा, रोग, मृत्यु आदि विकार सभी प्राणियों को पीडित करते ही हैं। यह पीडामय अवस्था का मूल हमारा अज्ञान है। अतः अगले मंत्र से भगवती श्रुति सारा प्रयत्न कर ज्ञान पाने को प्रेरित करती है।

**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**

**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।२.५।।**

**चेद्** = यदि **इह** = यहाँ **अवेदीत्** = आत्मा का यथार्थ ज्ञान पा लिया **अथ** = तो **सत्यम्** = सार्थकता है, **चेद्** = अगर **इह** = यहाँ **न** = नहीं **अवेदीत्** = जान पाये तो **महती** = महान् **विनष्टिः** = विनाश है। **धीराः** बुद्धिमान् लोग **भूतेषु-भूतेषु** = सभी भूतों में **विचित्य** = एक ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर **अस्मात्** = इस **लोकात्** = लोक से **प्रेत्य** = पूर्णतः विमुख होकर **अमृताः** = अमृत **भवन्ति** = होते हैं।

'इह चेदवेदीत्' आदि से श्रुति सब अधिकारियों को एक आवश्यक कर्त्तव्य बता रही है क्योंकि वह कह रही है कि अगर यह कार्य नहीं किया तो विनाश निश्चित है। वेद यह विधि कह रहा है कि मनुष्य जन्म हो गया तो जरूर आत्मा अपरोक्षानुभूति रूप से प्रकाशमान रहे इसके लिये हर संभव

यत्न करना चाहिये।

जो मनुष्य विवेकादि से युक्त होने के कारण अधिकारी है और देहद्वय-दार्ढ्यादिसम्पन्न होने के कारण समर्थ है वह यदि पूर्वोक्त असाधारण स्वरूप वाले आत्मा को बताये ढंगों से सही जान लेता है तब उसका होना सच्चा है। 'सच्चा है' मतलब उसने मनुष्यजन्म होने पर अविनाश-स्वरूप पा लिया है। अतः उसका होना सार्थक है—संसार में प्रविष्ट होने का जो अर्थ या प्रयोजन है वह उसने सिद्ध कर लिया है। 'होने' की अच्छाई भी, सुन्दरता-पवित्रता भी यही है कि परमात्मा पर अज्ञान का कलंक भासमान भी न रहे। यह नित्य, अजात, 'होना' ही पारमार्थिक है। तत्त्वनिष्ठ का 'होना' ही वह व्यवहारातीत तथ्य है जो सबकी अर्थना का चरम विषय है।

आत्मा जान लेने पर ही होने की सत्यता क्यों है? कारण क्या है कि आत्मा को जरूर जानना चाहिये? ज्ञान से ही होने की सत्यता इसलिये है कि उससे ही परमार्थ तत्त्व प्राप्त हो जाता है। जानना जरूर चाहिये क्योंकि जानकार का जीवन की फलसहित है।

अधिकारी अगर जीवित रहते परमात्मसाक्षात्कार नहीं कर पाया, यदि कम सामर्थ्य होने पर उसने परमात्मा के स्वरूप को समझकर उपासना भी नहीं की, तो उसका जीवन बेकार हो गया।

आत्मा की वास्तविकता न जानी तो केवल जन्म बेकार गया इतना ही नहीं, दीर्घकालिक विनाश भी होगा अर्थात् ज्ञान के बिना समाप्त न होने वाली संसारगति ही चलती रहेगी, जन्म-बुढ़ापा-मरना आदि का चक्र टूटेगा नहीं।

क्योंकि अज्ञान रहते इस चक्र से स्वयं को प्रताडित समझना रूप महान् विनाश निश्चित है इसलिये इस प्रबन्ध को तोड़ने के लिये अवश्य ही आत्मा जान लेना चाहिये।

आत्मज्ञान से क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर दूसरी अर्धाली से बताया



जा रहा है। जो ब्राह्मण आत्मज्ञान में मोक्षहेतुकतारूप गुण समझते हैं और आत्मज्ञान से वंचित रहने में अनवरत संसार में आवृत्ति बनी रहेगी यह दोष समझते हैं वे स्थावर-जंगम सभी भूतों में ब्रह्मरूप एक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं अर्थात् नाम-रूप से अलग कर अस्ति-भाति-प्रिय परब्रह्म को प्रत्यग्रूप अनुभव करते हैं और अखण्डबुद्धि पाकर न केवल धन पुत्रादि वरन् देह मन आदि में भी 'मैं-मेरा' ऐसा निश्चय छोड़कर दृश्यमात्र में तनिक भी रति नहीं रखते और अद्वैत, नित्य-विज्ञानरूप, अविनाशस्वभाव ब्रह्म ही हो जाते हैं। 'विचित्य' से ईंटों की तरह किसी की चिनाई नहीं कही जा रही बल्कि विविक्त कर साक्षात्कार करना कहा जा रहा है क्योंकि 'चिनाई' अर्थ प्रकृत में विरुद्ध है। धातुओं के अनेक अर्थ हुआ ही करते हैं। 'जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है' यह मुण्डक श्रुति है।

**।। इति द्वितीय खण्ड।।**

## तृतीय खण्ड

पूर्व खण्ड में कहा था आत्मा जानकारों के लिये अविज्ञात है, विज्ञात तो उसे ग़ैर-जानकर ही समझते हैं। सामान्य मान्यता है कि जो हुआ करता है वह प्रमाणों से जाना जाता है और जो होता नहीं है वह शशशृंगादि अत्यन्त असद् वस्तु ही सर्वथा प्रमाणों का अविषय होता है। जब इस श्रोत्रादि के श्रोत्रादि परब्रह्म को प्रमाणों का सर्वथा अगोचर बताया तो कमज़ोर दिमाग़ वालों को यह भ्रम संभव है कि यह परमात्मा नहीं ही होगा। ऐसा उल्टा ज्ञान न हो जाये इस प्रयोजन से इस खण्ड में कथा के रूप में सर्वप्रशासक परमेश्वर का वर्णन किया जा रहा है।

विदित-अविदित से अन्य वही परब्रह्म हर तरह, भीतर बाहर, से प्रशासन करने वाला है। देवताओं से भी श्रेष्ठ देव है अर्थात् खिलाड़ी है, विजेता है, व्यवहार करने वाला है, प्रकाशरूप है, स्तवनीय है, आनन्दरूप है, अविद्यामदमस्त है, उसका सपना ही सारा संसार है, उसकी इच्छा से ही सब कुछ होता है, सारी क्रियाएँ व सारे ज्ञान उसी से होते हैं और मोक्ष समेत सब लौकिक अलौकिक फलों का वही निरंकुश प्रदाता है। बाकी सब पर शासन चलाने वाले इन्द्रादि पर भी उस ऐश्वर्यशील का ही अलंघ्य शासन चलता है। उसे विदित में लाने की कोशिश दुःखों से भरी है और बड़ी मेहनत से हुई तैयारी के बाद ही उसे अभात—अज्ञात, अननुभूयमान—समझना समाप्त हो सकता है, देवों की जीत और असुरों की हार का हेतु वही है। उसे 'नहीं है' कैसे कहा जाये! आगे की कथा परमेश्वरास्तित्व समझाने के अनुकूल ढंग से ही प्रवृत्त हुई है।

ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये यह कथानक यहाँ सुनाया जा रहा है। प्रशंसा किस तरह है? इस तरह कि इसमें बताया है कि ब्रह्म से निकट का संपर्क होने के कारण अर्थात् ब्रह्म का विज्ञान होने के कारण ही अग्नि व वायु बाकी



देवताओं से श्रेष्ठ हुए और उनसे भी श्रेष्ठ हुए इन्द्र क्योंकि उन्हीं ने हैमवती के उपदेश से सर्वप्रथम ब्रह्म की सही महिमा समझी।

अथवा आख्यायिका से यह दिखाया जा रहा है कि ब्रह्मसाक्षात्कार अतिप्रयत्नसाध्य है। जब अत्यन्त तेजस्वी अग्नि आदि देवता और देवराज इन्द्र भी क्लेश से ही ब्रह्म समझ पाये तब हमें उसके लिये काफी कोशिश करनी पड़ेगी इसमें कहना ही क्या! ब्रह्म को दुर्विज्ञेय बताना इसलिये है कि हम अधिकाधिक प्रयत्न ब्रह्मज्ञान के लिये करें। जिस ज्ञान से परम पुरुषार्थ सिद्ध होगा वह तो पूर्व खंड में उपसंहृत कर ही दिया। अब इस अर्थवाद से इसलिये उस पर तत्त्व को कठिनाई से समझ आ सकने वाला कहा जा रहा है कि अधिकारी इससे प्रेरित हो उसके ज्ञान के लिये और ज्यादा यत्न करे।

इस ग्रन्थभाग का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि शम आदि का अभ्यास जरूर करना चाहिये क्योंकि इन्द्रादि का अभिमान हटने पर ही उन्हें ज्ञान हुआ यह यहाँ दिखाया गया है। ब्रह्मविद्या के साधन हैं शमादि; परब्रह्म का ज्ञान और उपासना दोनों ही अशान्त आदि व्यक्ति करने में असमर्थ हैं। बिना शमादि के ब्रह्मानुभूति हो नहीं सकती अतः शास्त्र को इष्ट है कि शमादि का विधान किया जाये। चतुर्थ खण्ड में तप, दम आदि कहे जाने वाले हैं। वे अवश्य किये जायें अन्यथा ब्रहसाक्षात्कार नहीं होता यह इस अर्थवाद का तात्पर्य है।

शमादि साधनों की कमी का स्पष्ट पता चल जाता है अभिमान, राग-द्वेष आदि से सम्बद्ध रहने से। अभिमानादि होने का मतलब है शमादि का न होना। और जिसमें शमादि नहीं है उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह परमात्मानुभव पा सके क्योंकि ब्रह्मयाथात्म्य की अवगति उसे ही होती है जो दृश्यसम्बन्धी सब मिथ्या निश्चय छोड़ चुका है।

कथा में दिखाया है कि जब अग्नि आदि देवताओं का यह अभिमान नष्ट हुआ कि 'हमारी ही यह जीत है, महिमा है' तब उन्हें ब्रह्मविज्ञान हुआ। इससे

भी यह निश्चय होता है कि शम आदि साधनों की विधि हमें प्रवृत्त करने में समर्थ हो इसलिये यह अर्थवाद है। आगे आने वाली उपासनाविधि में तात्पर्य वाला यह सारा कथानक है यह भी समझना चाहिये।

सगुणोपासना की जा सकती है—यह निश्चय हो इसलिये यह आख्यायिका यहाँ जरूरी है क्योंकि पूर्वप्रसंग में कह दिया था कि जो उपास्य है वह ब्रह्म नहीं है। पहले कहा था 'जिसकी उपासना करते हैं उसे ब्रह्म न समझना।' इससे लगेगा कि परमात्मा उपासनीय है ही नहीं। इस ग़लत ज्ञान को हटाने के लिये बताना पड़ेगा कि क्योंकि वही परब्रह्म सगुण भी है इसलिये उपासना के योग्य है ही। अधिदैव-अध्यात्मभेद से यहाँ परमात्मोपासना बताकर यही स्पष्ट किया कि निरस्तसर्वोपाधि पारमार्थिक स्वरूप से उपासना-विषय न होने पर भी सोपाधि रूप से वह उपासना के योग्य है। अतः मन्दाधिकारी ईश्वरोपासना करे।

अथवा कथा यह बताने के लिये है कि ब्रह्मविद्या से विपरीत होने के कारण प्राणियों में जो कर्तृ-भोक्तृ-अभिमान है—'मैं करने वाला हूँ' आदि—वह वैसा ही मिथ्या है जैसा देवताओं का यह अभिमान कि 'यह हमारी ही विजय हैं।'

### प्रथम मन्त्र

**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।।३.१।।**

**ह** = किसी समय ऐसा हुआ कि **देवेभ्यः** = देवताओं पर कृपा करने के लिये **ब्रह्म** = परमात्मा ने **विजिग्ये** =विजय प्राप्त की। **ह** = निश्चय ही **तस्य** = उस **ब्रह्मणः** = परमात्मा की **विजये** = यह विजय थी जिसके होने पर **देवाः** = देवताओं ने **अमहीयन्त** = महिमा पायी। **ते** = उन देवताओं ने **ऐक्षन्त** = समझ लिया **इति** = कि **'अस्माकम्** = हमारी **एव** = ही **अयम्** = यह **विजयः** = जीत है, **अस्माकम्** = हमारी **एव** = ही **अयम्** = यह **महिमा** = महिमा है।'



श्रोत्र का श्रोत्र आदि असाधारण स्वरूप वाला परमात्मा यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है। कथानक में कही बातें इस बात की सूचक हैं कि ब्रह्म-शब्द परमात्मा को ही कह रहा है। नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से अन्य और किसी में यह सामर्थ्य नहीं कि अग्नि आदि को अभिभूत करके तिनके को वज्र सा बना दे। यह कहा ही है कि 'अग्नि उस तिनके को जला नहीं पायी', इससे पता चलता है कि जिसकी बात की जा रही है वह अग्नि आदि के सामर्थ्य का नियन्ता है। अतः निश्चय होता है कि यहाँ ब्रह्म-शब्द से ईश्वर कहा जा रहा है। ईश्वर ही रुकावट करे तभी यह संभव है कि एक तिनके को आग न जला पाये या वायु उड़ा न पाये। ईश्वरेच्छा से ही तिनका वज्र-सा हो जाये यह संगत है। अतः ब्रह्म का अर्थ ईश्वर है।

संसार की सब प्रवृत्तियाँ नियमबद्ध ढंग से चल रही हैं यही इसमें पर्याप्त कारण है कि इसे चलाने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर है। यद्यपि वेद, स्मृतियाँ और लोकप्रसिद्धि तीनों से हमेशा ही सब जानने वाले, सबके आत्मरूप, सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर सिद्ध ही हैं तथापि शास्त्र तात्पर्यतः ईश्वररूप अर्थ को बताते हैं यह निश्चय हो इसलिये यहाँ विस्तार से बताने जा रहे हैं कि 'वह ईश्वर है' यह निर्णय कैसे होता है।

यह संसार ऐसा होना चाहिये कि इसे बनाने वाला कोई हो जो इस जगत् और इसमें विद्यमान भोक्ताओं के कर्मादि विभाग को—अन्तर को, योग्यताओं को,—जानता हो क्योंकि यह संसार इस तरह का कार्य है जो ऐसे ही जानकार द्वारा निर्मित हो सकता है जैसे घर, महल आदि। जिन्हें बनाने वाला इस तरह का नहीं होता वे फिर ऐसे कार्य भी होते नहीं, जैसे आत्मा, आकाश आदि।

संसार को 'इस तरह का कार्य' कहा कि वह वैसे जानकार द्वारा ही

उत्पादित हो सकता है। किस तरह का संसार विवक्षित है?

पहले तो इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच आदि अनन्त तरहों के भोक्ता कर्त्ता हैं। फिर भोगभूमि आदि जगहें भी यहाँ विचित्र और अनगिनत हैं जैसे द्युलोक, वियल्लोक, भूलोक, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि।

किं च यह संसार ऐसा है जिसमें नाना प्रकार के प्राणियों के उपभोग के योग्य स्थान और साधन हैं। देश-काल-कार्यकारण भाव के अनुसार निश्चित क्रिया-प्रतिक्रियाओं की परम्परा वाला यह संसार ऐसा है जिसे अत्यन्त कुशल शिल्पी भी बना नहीं सकते।

यह संसार ऐसा ही माना जा सकता है कि इसके निर्माता को इस संसार के सब अवान्तर भेद और इसमें वर्तमान भोक्ताओं तथा उनके कर्मों के सारे प्रकार ज्ञात हैं एवं उसने उस जानकारी को नज़रअन्दाज़ किये बिना—चाहे संकल्पमात्र रूप ही सही लेकिन किसी चेतन-कोशिश से इसे बनाया है।

ऐसा मानने में कारण यह है कि संसार कार्य है और पूर्वोक्त विशिष्ट स्वरूप वाला है। घर, महल, रथ, पलंग, कुर्सी, आदि चीजें जो विभिन्न भोक्ताओं के लिये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न तरहों से उपभोग के लिए निर्मित होती हैं तथा उचित देश-काल में उचित कारणों से बनायी जाती हैं, उन्हें बनाने वाले यह जानते हैं कि वे किससे, क्या, किसलिये बना रहे हैं और प्रयत्नपूर्वक उन्हें बनाते हैं। जिन्हें बनाने वाला ऐसा नहीं होता वे आत्मा, आकाशादि पदार्थ कार्य (जन्य) भी नहीं हुआ करते। अतः उक्त ख़ासियत वाला तथा कार्यरूप संसार उक्त ढंग के ईश्वर की कृति ही मानी जा सकती है।

कर्म से ही कार्य-वैचित्र्य क्यों ने उपपन्न होगा ? कर्म से वह उपपन्न नहीं होगा क्योंकि परतन्त्र होने के कारण सहकारी होने पर भी स्वतन्त्र कारण वह नहीं हो सकता।



मीमांसक कहता है : जो यह सर्वानुभवसिद्ध प्राणियों के सुखादि-उपभोग का वैचित्र्य—वैविध्य, अन्तर—है, भोगोपकरणों का वैचित्र्य है—शुद्धतादि और तारतम्येन सुखादिव्यंजकत्व है—तथा देश-काल-कार्यकारणभाव के अनुसार प्रतिबद्ध क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र है वह ऐसा नहीं कि उसे किसी सनातन सर्वज्ञ चेतन कर्त्ता ने बनाया हो। तो वैविध्य क्यों है? कर्म से ही विविधता है। कर्म ऐसे प्रभाव वाला है कि उसकी सीमा समझी नहीं जा सकती। इतना ही नहीं, सभी को—ईश्वरवादी को भी—उसे फलहेतु मानना ही पड़ता है। जब कर्म फलहेतु है ही तो एक अधिक ईश्वर की कल्पना से क्या लाभ ?

इसलिये न कोई नित्य ईश्वर है जो नित्य सब जानने में समर्थ हो और न ही वह किसी फल के प्रति हेतु है। उपभोग-विचित्रता आदि की उपपत्ति अकेले कर्म से होती नहीं कि तुम्हारी व्यवस्था स्वीकार्य हो सके। क्यों? इसलिये कि कर्म कर्त्ता के अधीन होता है अतः कर्ता के बिना कुछ करने में असमर्थ है। जानकार की कोशिश से कर्म पैदा होता है, जब उस कर्ता ने कोशिश छोड़ी तब कर्म भी रहता नहीं। ऐसा कर्म जो करने वाले की कोशिश बन्द होते ही रह नहीं गया, वह अन्य देश-काल में नियमित ख़ास कारणों की अपेक्षा रखते हुए अपने उत्पादक कर्ता के लिये फल उत्पन्न करेगा यह संगत नहीं। अपने किसी चेतन प्रयोक्ता की अपेक्षा रखकर तो वह ऐसा करता हुआ समझा जा सकता है, पर बिना उसके नहीं।

कर्म करने वाला जीव ही फलकाल में उसका प्रयोक्ता मान लिया जाये—अर्थात् वह कर्म के सम्बन्ध में यह समझने वाला हो कि 'मैंने तुझे उत्पन्न किया था, अब तुझे अपने अनुरूप फल के लिये विनियुक्त करता हूँ'—तो क्या व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी ? नहीं होगी, क्योंकि जीव देश-काल-निमित्तों के विशेषों को जानता नहीं है। किस कर्म का कहाँ, कब फल होना चाहिये, यह न उसे जानकारी है, न वह स्वातंत्र्येण निर्णायक है। अगर देशादि विषयों का जानकार होता तो कर्ता, स्वतन्त्र रहते हुए कर्म का विनियोग करते समय

वह अनिष्ट फल के लिए पाप कर्मों का विनियोग न करता। दुःख होता जरूर है, अतः जीव प्रयोक्ता नहीं है।

बिना निमित्त ही अर्थात् निमित्तभूत किसी चेतन की इच्छा के बिना ही कर्तृ-आत्मा द्वारा निर्वर्तित और उसे फल देने वाला कर्म उसी तरह सुखादि फलाकार ग्रहण कर लेता है जैसे शरीर की चमड़ी बिना हमारी इच्छा के ही सिकुड़, फट आदि जाती है—यह भी नहीं माना जा सकता।

आत्मा द्वारा किया कर्म कर्ता से असम्बद्ध हो, चुम्बक की तरह फल का आकर्षक हो सके यह भी संभव नहीं क्योंकि कर्म प्रधानभूत कर्ता से सम्बद्ध ही होता है।

लोकायत कहता है कि कर्म तो भूतों पर आश्रित है, भूतों पर ही उसका प्रभाव पड़ता है जिसे फल कहते हैं, इसमें चेतन से क्या लेना-देना?

किन्तु उसका कहना ग़लत है। भूत तो सिर्फ साधन हैं, उपाय हैं। कर्ता जिन क्रियाओं को करता है उनमें महाभूत तो साधन पड़ते हैं। क्रिया होते समय जो उद्यमनादि व्यापार है वह उनसे होता है। क्रिया पूरी हो जाने पर महाभूतों को छोड़ दिया जाता अर्थात् उस क्रिया के अनुकूल व्यापार से पराङ्मुख कर दिया जाता है। जैसे किसान खेती की क्रिया हलादि से करता है, बोने के अनन्तर हल को घर में एक तरफ रख देता है। ऐसे महाभूत जो केवल साधन हैं—कालान्तर में, देशान्तर में, निमित्तविशेषादिसापेक्ष हुए फल उत्पन्न करने वाले हों यह संभव नहीं। यह कहीं देखा नहीं गया कि हल खुद खेत से धान घर पहुँचा दे! भूत और कर्म दोनों जड हैं अतः किसी चेतन अधिष्ठाता के बिना खुद प्रवृत्ति करें यह असंगत है। वायु खुद बहती है, ऐसे ही जड स्वतः प्रवृत्ति करने वाले क्यों न माने जायें? इसलिये ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि वायु जड हो खुद बहती है यह कहाँ सिद्ध है! जब रथ आदि में निश्चित देखा जा रहा है कि जड में प्रवृत्ति चेतनाश्रित है तो वायु



में कैसे माना जाये कि वह जड होते हुए बिना अधिष्ठातृचैतन्य के स्वयं प्रवृत्ति करती है? ज्ञात से अज्ञात की सिद्धि होती है, उल्टा नहीं।

शास्त्र के आधार पर ही क्यों न मानें कि कर्म से फल होता है ? शास्त्र इतना ही कहता है कि कर्म से फल सम्पन्न होता है—'स्वर्ग चाहने वाला व्यक्ति यह याग करे', इससे वह याग स्वर्गोपाय सिद्ध होता है। शास्त्र यह तो कहता नहीं कि ईश्वर या किसी चेतन देवतादि से फल मिलता है। कर्म की फलकारणता अदृष्ट के बिना अनुपपन्न है अतः श्रुतार्थापत्ति से अदृष्ट सिद्ध होकर प्रमाण से निर्णीत कर्मगत फलोपायता उपपन्न कर देता है। प्रमाणभूत शास्त्र से पता चला कि कर्म इष्टोपाय है अतः यह माना नहीं जा सकता कि कर्म निष्फल है। ईश्वर तो इसी से माना जा रहा था कि कर्मफल मिलना उसी से उपपन्न है; जब अदृष्ट से वह उपपन्न है तो ईश्वर कर्मफल की अन्यथानुपपत्ति से तो सिद्ध होगा नहीं। प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण ईश्वर में है नहीं। अतः ईश्वर जैसी अप्रमाणिक और व्यर्थ वस्तु की कल्पना क्यों करनी, कर्म से ही जगद्वैचित्र्य उपन्न है।

मीमांसकव्यवस्था लोकदृष्ट व्याप्ति से विरुद्ध होने से अमान्य है। क्रिया दो तरह की होती है—(१) दृष्ट फल वाली और (२) अदृष्ट फल वाली।

(१) दृष्ट फल वाली दो प्रकार की है—(क) जिसका फल क्रिया के तुरन्त बाद हो जाता है और (ख) जिसका फल क्रिया पूरी होने के काफी देर बाद होता है। पहली का उदाहरण है चलना, खाना आदि और दूसरी का खेती, नौकरी आदि। जो क्रिया तुरन्त फल देती है उसका नाश फल होते ही हो जाता है अर्थात् किसी अन्य फलदाता की वहाँ जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन जो क्रिया समाप्त होने के काफी देर बाद फल देती है वह उत्पन्न होकर फल देने से पहले ही नष्ट हो जाती है अतः वह कालान्तर में फल देने वाले चेतन की अपेक्षा करती है। यही देखा गया है कि खेती का फल—घर में अनाज आना—कृषि क्रिया के ही नहीं खेती करने वाले किसानादि के अधीन होता

है, वह पकी खेती काट कर घर लाता या मँगाता है। ऐसे नौकरी का फल—वेतन—मालिक के आधीन होता है।

(२) अदृष्ट फल वाली क्रिया भी इन दो न्यायों से छूटी हुई नहीं मान सकते। दृष्टफल वाली की तरह इसकी व्यवस्था संगत होने पर इसके लिये न्याय ही अलग बनाना अप्रमाणिक गौरव का काम होगा। यागादि से धूमादि तत्कालभावी फल हैं उनके लिये ईश्वरव्यापार नहीं चाहिये। स्वर्गादि कालान्तरभावी फल है, उनके लिये ईश्वरसंकल्प चाहिये। मुख्य फल स्वर्गादि रहते भी तत्कालभावी का निषेध संभव नहीं, गंगास्नान से शीतलता, मैल छूटना आदि नहीं होता यह कौन मानेगा ? इस प्रकार शास्त्रविहितादि कर्मों से फलप्राप्ति में भी लोकदृष्ट क्रियाफलव्यवस्था के अनुकूल प्रक्रिया संभव होने से यही मीमांसक को भी माननी चाहिये।

इसलिये युक्तियुक्त भी यही है कि यागादि क्रिया समाप्त होने पर भी कर्ता-कर्म-फल के विभाजनों का जानकार जो सनातन ईशान है वही यागादि का फल देने वाला है जैसे सेवादि का फल मालिकादि देते हैं। वह ईश्वर सबका आत्मा है। वह ईश्वर ही सबका, क्रियाओं का, फलों का, प्रत्ययों का साक्षी है। यह नित्य-विज्ञानस्वभाव है। संसारधर्मों से उसका कोई संस्पर्श नहीं है। श्रुतियों से ही ईश्वरनिश्चय हो जाता है। वेद ने कहा है : 'व्यवहारभूमि से बाहर है परमात्मा जो लोकभूत दुःखों से—दृश्यमात्र से—लिप्त नहीं होता।' 'वह बुढ़ापे और मौत से परे है।' 'न बुढ़ापा और न मृत्यु उसे छूते हैं।' 'उसकी कामनायें और उसके संकल्प सत्य होते हैं' 'यह सबका शासन करने के स्वभाव वाला है।' 'पुण्य कर्म यही करता है' 'यह खुद खाता नहीं, सिर्फ़ देखता है।' 'इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्यादि सब स्थित हैं'। इन सब श्रुतियों से असंसारी, अद्वितीय, नित्यमुक्त आत्मा सिद्ध है। हज़ारों स्मृतिवचन भी इस बात को सत्यापित करते हैं।

ईश्वर का बोध कराने वाले श्रुति-स्मृति वाक्य अर्थवाद हैं यह कल्पना



नहीं कर सकते क्योंकि कर्म आदि किसी अन्य से सम्बद्ध न होने से अन्यशेष अर्थात् किसी अन्य के लिए हैं नहीं और बोध जरूर करा रहे हैं अतः कर्मविधियों की तरह ये भी स्वार्थ में प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, इनसे ईश्वरज्ञान होता है एवं उसका बाध नहीं होता। स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक को ऐसा ज्ञान प्रमाण ही मानना पड़ेगा जिसका बाध नहीं होता, अतः ये वाक्य प्रमाण ही हैं।

ईश्वर का निषेध तो शास्त्र में किया नहीं गया है कि उसे न माना जाये। 'ईश्वर नहीं है' ऐसा कोई निषेध वाक्य वेदों में पढ़ा नहीं जाता। 'न हिंस्यात्' आदि जैसे प्राप्त हिंसा का निषेध करते हैं ऐसे ईश्वर प्राप्त ही नहीं अतः उसका निषेध भी नहीं। एतावता माना कैसे जा सकता है ?

यह कहना ग़लत है कि ईश्वर प्राप्त नहीं क्योंकि शास्त्र और युक्ति से उसकी प्राप्ति सिद्ध की जा चुकी है। किं च कर्म का फल देने वाले ईश्वर, काल आदि का निषेध नहीं किया गया है। यह तो देखा गया नहीं है कि कर्ता द्वारा उत्पादित कर्म अकेला ही, किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखे बिना ही फल दे देता हो। विनष्ट हुआ याग भी सुदूर भविष्य में फलप्रद हो यह संभव नहीं। अतः फलदाता परमेश्वर ही श्रद्धेय है।

जैसे सेवक द्वारा सेव्य की बुद्धि संस्कारयुक्त हो जाती है तो सेवाकार्य समाप्त होने के काफी देर बाद भी सेव्य से सेवक फल पा लेता है, ऐसे यागादि कर्म द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की बुद्धि संस्कारयुक्त हो जाती है अतः कर्म विनष्ट हो चुकने पर भी कर्मकर्ता को ईश्वर से फल मिल जाता है। दृष्टानुसारी यह प्रक्रिया संगत है।

सैकड़ों वाक्यों से भी पदार्थ अन्यान्य देश-कालों में अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। ऐसा नहीं कि किसी देश में या किसी काल में आग ठण्डी होती है। इसी तरह कर्म से कालान्तरभावी फल दो प्रकार ही मिलता है :

(१) जानकार कर्ता की अपेक्षा से; जैसे खेती आदि का फल मिलता है उस किसान आदि के सहारे जो बीज, खेत, जुताई, संभाल आदि सब समझने वाला है।

(२) जानकार सेव्य की अपेक्षा से ; जैसे सेवादि का फल उस जानकार मालिकादि के सहारे मिलता है जिसकी बुद्धि में सेवककृत सेवा का संस्कार हो।

शास्त्र भी यागादि की फलहेतुता कहता है तो इन प्रकारों को लाँघकर कह रहा है ऐसा बेवज़ह माना नहीं जा सकता अतः इनके अनुकूल शास्त्रसंमत अर्थ समझना चाहिये।

यागादि कर्मों का शास्त्रबोधित फल होता है—यह उभयवादिसंमत है। यागादि के फल मिलने के लिये जरूरी जानकारी उसे तो है नहीं जिसने वह यागादि किया है कि उसके भरोसे फल मिले। इसलिए कर्मकाल से अन्य काल में फल देने वाले यागादि का फल उसी की अपेक्षा से मिल सकता है जिस जानकार की बुद्धि में इन सब के संस्कार हों—कर्म, देश, काल, निमित्त, फलोन्मुखता, इनके अवान्तर विभाग आदि। इसमें उदाहरण सेवादि कर्म हैं जिनका फल ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा रखता है जिसे सेवादि का ज्ञान हुआ है और सेवादि-संस्कार सहित जिसकी बुद्धि में सेवादिकर्म के अनुरूप फल का भी संस्कार है।

इसलिये 'सब प्राणियों का अन्तरात्मा है', 'जो साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर आत्मा है' आदि श्रुतियों से सभी जन्तुओं का, उनकी बुद्धियों का, उनके कर्मों और उन कर्मों के फलों का एवं इन सबके अवान्तर विभाजनों का साक्षी सर्वज्ञ ईश्वर प्रामाणिक निश्चित होता है और युक्ति भी उसी के पक्ष में मिलती है।

अभी ही सब जन्तुओं का स्व-रूप वही ईश्वर है क्योंकि श्रुतियाँ स्पष्ट



कह रही हैं कि वह आत्मा से अन्य नहीं है: 'इससे अन्य देखने-सुनने-सोचने-जानने वाला नही हैं', 'इससे अलग कोई जानकार नहीं' इत्यादि। इतना ही नहीं, श्रुति मुखतः कहती है 'वह तू है'। मिट्टी के पिण्ड के बारे में तो कोई नहीं कहता 'यह सोना है'! श्रुति 'तू'-शब्दार्थ 'मैं' को 'वह'-शब्दार्थ ईश्वर कह रही है तो निश्चित है कि ईश्वर से मैं अलग हो ही नहीं सकता।

जीवात्मा-परमात्मा में भेद ही क्यों न मानें जब इनके ज्ञानों में, सामर्थ्यों में, कर्मों में भेद हैं तथा एक है उपासक, अशुद्ध, अबुद्ध और दूसरा है उपास्य, शुद्ध और मुक्त? ऐसा स्वीकार इसलिये नहीं कर सकते कि श्रुतियाँ जीव-ईश्वर में भेददृष्टि हटाती हैं।

शंकालु कहता है : सिद्धान्ती ने जो यह कहा कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं है, वह ठीक नहीं। संसारी आत्मायें तो ईश्वर से अलग ही हैं क्योंकि घोड़ा-भैंसा की तरह ये विभिन्न लक्षण वाले हैं, इनके असाधारण धर्म या स्वरूप अलग-अलग हैं। यह कैसे जाना? बताते हैं :

(१) सूर्य की रोशनी की तरह ईश्वर का तो नित्य और सबको विषय करने वाला ज्ञान है और उससे विपरीत संसारियों का ज्ञान है जो जुगनू की तरह थोड़े को विषय करता है और हमेशा रहता भी नहीं।

(२) ईश्वर की शक्ति, सामर्थ्य, भी सब विषयों में है और सनातन है जब कि जीव की इससे विपरीत है, वह बहुत कम तो कर सकता है और उतना सामर्थ्य भी शीघ्र क्षीण हो जाता है।

(३) ईश्वर का कर्म भी जीवकर्म से विलक्षण है। जैसे गर्म-स्वभाव आग-द्रव्य होने मात्र से जलना कर्म हो जाता है जिसमें आग के स्वरूप में कोई विकार—बदलाव—नहीं आता; या राजा, चुम्बक, प्रकाश आदि के होने मात्र से कुछ कर्म हो जाते हैं जिनमें राजा-आदि के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता; ऐसे ही ज्ञानस्वभाव अपनी सत्तामात्र से ईश्वर का जगदुपादान

बनना आदि कर्म हो जाता है जिसमें ईश्वर के स्वरूप में किंचित् भी विक्रिया नहीं होती। जीव के कर्मों में तो जीव बदल ही जाता है।

(४) 'उपासना करे' आदि वचनो से पता लगता है कि ईश्वर तो गुरु, राजा आदि की तरह उपासना का विषय है और शिष्य, नौकर आदि की तरह जीव उपासना करने वाला है।

(५) ईश्वर हमेशा शुद्ध है, निर्दोष है लेकिन जीव पुण्य करे तो शुद्ध है, पाप करे तो अशुद्ध।

(६) निष्पाप शुद्ध होने से ईश्वर सदा मुक्त है यही शास्त्रसंमत है जब कि जीव तो अनादि मल से युक्त होने से संसरण कर रहा है।

इस प्रकार जीव-ईश्वर में ज्ञानादि लक्षणों का भेद होने से इनमें भेद ही उचित है क्योंकि घोड़ा-भैंसा आदि में जहाँ भी ज्ञानादि लक्षणों का भेद होता है वहाँ उनमें भेद सर्वसंमत है। अतः इनमें अभेद न मानकर भेद ही क्यों न स्वीकार्य हो?

समाधान : जीव-ईश्वर में भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि न केवल हजारों श्रुतियाँ इनमें अभेद बताती हैं वरन् इनमें भेददृष्टि रखने की निन्दा भी की गयी है। वेद कहता है 'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ—ऐसा जानने वाला अज्ञानी है', 'आत्मा ही यह सब कुछ है, जो इससे अन्य तरह ही वास्तविकता समझते हैं उन्हें क्षयिष्णु भोग ही मिल पाते हैं, दूसरों का ही उन पर शासन चलता है', 'जो थोड़ा भी भेद देखता है वह बार-बार मरता है' इत्यादि। तत्त्वमस्यादि अभेद-श्रुतियों की तो वेद में भरमार है।

जो तो यह कहा था कि ज्ञानादि लक्षणों का अन्तर होने से जीव-ईश्वर विभिन्न हैं, उस पर हमारा यह कहना है—लक्षणभेद से लक्ष्यभेद की चर्चा इस सन्दर्भ में अभित्तिचित्र है! उनमें भेद स्वीकार्य ही नहीं कि लक्षणभेद की संभावना हो। आखिर लक्षण तो तभी भिन्न होंगे जब लक्ष्यों में भेद होगा।



बुद्धि आदि उपाधियों से और ईश्वर से अलग विपरीत लक्षण वाले जीवात्मा हैं ही नहीं। नित्यमुक्त एक ईश्वर ही सब भूतों का आत्मा श्रुतियों को संमत है। जब ईशान्य जीव ही अप्रसिद्ध है तब आगे जीवलक्षणों की चर्चा ही व्यर्थ है।

जीववादियों को जीव ऐसा स्वीकार्य है : वह प्रत्यङ्मात्ररूप नहीं है, कुछ न कुछ अप्रत्यक् लिए हुए ही वह होता है। इसलिये वह 'बाह्य' है। आँख बुद्धि आदि के क्रमशः प्राप्त समूहों में अहंकार-ममकार आदि उल्टे ज्ञानों की न टूटने वाली जकड़ उस पर बनी रहती है। सूक्ष्मदेह वही रहे पर नये संस्कारादि पड़ने से नवीनता उसमें भी आती है और नये स्थूल देह तो मिलते ही रहते हैं। दोनों में अहंता-ममता और तत्प्रयुक्त सभी ग़लत निश्चय—अनात्माओं में आत्मनिश्चय—जिसको होते रहें वही जीव है। जीव के गर्भ में नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-चैतन्य-प्रत्यग् ईश्वर है।

नित्य विज्ञान जो सच्चा चेतन है उससे जीव अवभासित, प्रकाशित होता है। उस नित्य विज्ञान को भी इस जीव में ही समझा भी जा सकता है। विषयज्ञान, सुखादि, अविद्या और शरीर—इनसे यह एकमेक सा हुआ रहता है क्योंकि विशिष्ट अपने विशेषणों से सर्वथा अलग नहीं होता। है जीव कल्पित क्योंकि उपाधिपरामर्श के बिना भासता नहीं। अनित्य पदार्थों का ही अनुभव करने में यह संलग्न रहता है। यों कल्पित जीव ईश्वर के लक्षणों से उल्टे धर्मों वाला माना गया है। जब तक यह उपाधिसंपृक्त मायिक रूप रहता है तब तक उपाधि से जुड़े चेतन को 'संसरण हो रहा है' ऐसा अनुभवादि व्यवहार है। जब यह उपाधि संमिलितरूप निःशेष समाप्त—बाधित—हो जाता है तब जैसे प्रतिबिम्ब बिम्ब 'बन' जाया करता है या घटाकाश महाकाश 'हो' जाया करता है ऐसे ही यह कथनादि व्यवहार है कि 'जीव मुक्त हो गया।' ऐसे अविद्याकल्पित से अन्य कोई वास्तविक ईशान्य जीव न शास्त्र से न युक्ति से सिद्ध है।

परमात्मा और पूर्वोक्त जीवात्मा से अतिरिक्त तो 'आत्मा' कहलाने वाला है शरीर जो महाभूतों का संमिलित रूप ही है। मिट्टी लेपने से दीवार की तरह खाने-पीने से यह मोटा हो जाता है। इसका नाश तो प्रत्यक्ष ही दीखता है, जलता है, कटता है, सड़ता है। बदलता तो यह हमेशा रहता है। देवता, पितर, मनुष्य आदि तो शरीर ही होते हैं और ये सभी शरीर ऐसे ही भौतिकादि हैं। इस 'आत्मा' को आत्मा तो विरोचन-शिष्य ही कह सकते हैं, कोई बुद्धिमान् ऐसा कहता नहीं। और अगर सर्वोपाधि-परामर्श-रहित पारमार्थिक ईश्वर, ब्रह्म, को इन तीनों से 'अलग' कहना चाहो तो हमें हर्ज़ नहीं, पर तुम्हारी इष्टसिद्धि नहीं होगी।

बुद्ध्यादि, कल्पित जीव और परमात्मा से अतिरिक्त निरुपाधिक से अभिप्राय हो तो 'लक्षणभेदात्' यह नहीं कह सकते क्योंकि उसमें ज्ञानादि लक्षणभेद हैं ही नहीं, ये सब औपाधिक हैं। और निरुपाधिक अमान्य हो तो इन तीन से अन्य कोई प्रसिद्ध नहीं जिसमें लक्षणभेद दिखाया जा सके।

यदि ईश्वर से अन्य जीवात्मा नहीं तो सबको उपलब्ध बद्धतादि विरुद्धलक्षणता और सुख-दुःखादि से सम्बन्ध ईश्वर का ही मानना पड़ेगा, वही कौन युक्तियुक्त है ?

ईश्वर में बद्धतादि अयुक्त नहीं क्योंकि ईश्वर में निमित्तता होने के कारण लोक-भ्रम से उस पर बद्धतादि का अध्यास हो जाता है जैसे क्योंकि सूर्य अभिव्यक्ति आदि का निमित्त है इसलिए लोग समझते हैं कि वह दिन आदि 'करने वाला' है।

सूर्य हमेशा प्रकाश है और लोकों की– भूरादि लोकों की या घटादि की—अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति में निमित्त भी बनता है, विद्यमान हुआ अभिव्यक्ति में तथा अविद्यमान हुआ अनभिव्यक्ति में निमित्त समझना चाहिये क्योंकि हमारे दर्शन में सूर्य से सर्वथा अन्य 'अविद्यमानता' नाम की कोई चीज़



नहीं है। यद्यपि यों निमित्त बनने में सूर्य कुछ 'करता' नहीं—'होना' कुछ करना नहीं—तथापि सामान्य लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि सूर्य उदय-अस्त नामक क्रियायें 'करता' है, दिन-रात आदि काल 'बनाता' है। ऐसे ही जो नित्यविज्ञानशक्तिरूप ईश्वर है—अर्थात् मायोपाधिक तत्पदवाच्य नहीं बल्कि लक्ष्य है—वह जिन विकारों का निमित्त है उन्हीं का उस पर आरोप होने से वह संसारी, सुखी-दुःखी आदि हो जाता है।

वह किन विकारों का निमित्त है? लोक का, लोगों के ज्ञानों का, वे भूलते हैं इसका, उनके सुख-दुःख-याद आदि का। लोक तो उल्टी बुद्धि वाले ही हैं, जो जैसा है उसे वैसा जानना नहीं चाहते, उल्टा ही समझते रहते हैं। अतः ये सब विकार आत्मा पर आरोपित कर देते हैं। कहीं सत्त्वेन आत्मोल्लेख है, 'मैं हूँ'—यहाँ 'मैं' तो लोक है लेकिन 'हूँ' आत्मा ही है, सत् है। कहीं प्रत्यक्त्वेन, उसका उल्लेख हो जाता है, 'मैं सुखी' आदि। इसलिये परमात्मा के लक्षणों से विपरीत बद्धत्वादि लक्षणों का और सुख-दुःखादि का जो अध्यास उसी अखण्ड परमात्मा पर है वह कल्पित होने से अयुक्त नहीं है, परमार्थतः अर्थात् बिना अध्यास के, खुद-ब-खुद परमात्मा विपरीत स्वरूपों वाला नहीं है।

अध्यास क्योंकि भ्रान्त की दृष्टि के अनुरूप होता है इसलिये ईश्वर पर संसारित्वाध्यास से वास्तव में ईश्वर को कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता। आकाश में बादल आदि बहुतेरी चीज़ें बिखरी हैं। उसी आकाश में सूर्य भी है। लेकिन जिसे सूर्य की रोशनी नहीं दीखती वह अपनी दृष्टि से कह देता है 'अब यहाँ सूर्य कुछ नहीं दिखा रहा', यहाँ सूर्य दिखाता है यह भ्रम है जिसके कारण 'नहीं दिखा रहा' कहा जाता है। अन्यत्र तो प्रकाश है ही। अगर सचमुच न दिखा रहा हो तो कहीं न दिखाये। युगपत् दिखा भी रहा है, नहीं भी दिखा रहा! दोनों तो भ्रम से ही संभव हैं। वह तो सिर्फ़ प्रकाश है, 'दिखा रहा है' और 'नहीं दिखा रहा' दोनों भ्रम हैं। ऐसे ही बुद्धि आदि की वृत्तियाँ जिससे

व्याप्त हैं—जिससे प्रकाशित हैं—उस चैतन्य का न उदय है, न अस्त, और यों विवेकशून्य हुआ वह भ्रम से सुख-दुःखादि के सम्बन्ध का अध्यास परमात्मा पर करता रहता है। उस ईश्वर ने ही स्मृति में कहा है—'याद, ज्ञान और भूलना मुझ से होता है', 'मैं किसी का पाप नहीं लेता' आदि। इसलिये सूर्य में अप्रकाशकत्वादि की तरह नित्यमुक्त एक ईश्वर में ही लोक ने अविद्या से संसारित्व अध्यारोपित कर रखा है जब कि शास्त्र की प्रामाणिकता को आदर देते हुए महात्माओं ने असंसारिता स्वीकारी है।

अतः जो ज्ञानादि लक्षणभेद कहे थे उन सब का समाधान हो गया क्योंकि सारा ही भेद अध्यारोप है, वह वास्तविक भेद क्योंकर सिद्ध करेगा और अवास्तविक भेद तो यथाप्रतीति उपस्थित ही है, उसके लिए वाद क्यों करना?

अनेक माने गए चेतनों में भी जब सूक्ष्मता, चेतनता, सर्वगतता आदि कोई अन्तर नहीं तो भेद का कोई कारण न होने से आत्मभेद होगा कैसे? आत्मा को यदि बदलने वाला मानो तो उसे अनित्य मानना पड़ेगा जो आस्तिकों को अनिष्ट ही है। मोक्ष में तो आत्मगत कोई भेदक मान्य है नहीं अन्यथा मोक्ष ही अनित्य हो जायेगा, अतः वास्तविक आत्मभेद अस्वीकार्य है।

जिन्हें परमात्मा की सच्चाई की जानकारी नहीं उन्हें ही भेद सच्चा लगता है अतः यह युक्तियुक्त है कि जब परमात्मा की वास्तविकता की गैर-जानकारी नहीं रह जाती तब भेद भी नहीं रहता है, सच्चा नहीं लगता है। रस्सी का अज्ञान रहते साँप किसी तरह उपपन्न किया भी जा सके पर उसका अज्ञान न रहे तब साँप को उपपन्न कैसे किया जाये? उपलम्भमात्र हो तो भी है अनुपपद्यमान ही। अतः जीवन्मुक्ति एक अनुपपद्यमान वस्तुस्थिति है। इस प्रकार भेद मिथ्या निश्चित होने से यह सिद्ध हुआ कि अभेद वास्तविक है। अभेद में कुछ अभावगंध आती है अतः कहना चाहिये एकता वास्तविक है; यहाँ संख्यादिरूप एकत्व तो अविवक्षित ही है।

आत्मा को ही मोक्ष कहते हैं और उसे ही बंध भी कहते हैं। वे दोनों



हैं आत्मा की ही अपेक्षा से; आत्मसापेक्ष होने से वे दोनों मिथ्या हैं, उनमें निरपेक्ष आत्मा सत्य है। 'मैं बद्ध, मैं मुक्त' से अतिरिक्त बंध-मोक्ष क्या हैं! अतः वे स्वरूप के, आत्मा के, सापेक्ष हैं। आत्मा या स्वरूप उनसे निरपेक्ष है।

आत्मा का मोक्ष नाम कब पड़ता है? जब शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-विषय-विषयानुभव की शृंखला न रहते हुए इनका बीज अज्ञान बाधित हो जाये। यह होगा आत्मा की तात्त्विकता के यथार्थ दृढ अनुभव से। नित्य-विज्ञानरूप आत्मा से अन्य गुरु-शास्त्र-संस्कृत चित्त आदि निमित्तों से ही यह संभव है जिनकी कमी के कारण ही नित्यविज्ञान अनादि रहते भी अब तक यह अनुभव हुआ नहीं। लेकिन इन अन्य निमित्तों वाला होगा आत्मा ही; इन निमित्तों से हुई नैमित्तिक अखण्डवृत्ति से उपलक्षित आत्मा को मोक्ष कहा जायेगा। आत्मा के प्रति न सही उपलक्षितत्व के प्रति निमित्त चाहिए। अतः मोक्षसंज्ञक आत्मा भी नैमित्तिक होने से अज्ञानबीज है—उसे मोक्ष कहा जा रहा है इसमें भी कारण अज्ञान ही है क्योंकि वस्तुतः वह जब बंध ही नहीं तो मोक्ष क्यों होगा? 'न वै मुक्तः'। आत्मतत्त्व का याथात्म्य-विज्ञान अहंकार सम्बन्ध से होता है : अहंकार जैसे बाहर निकलकर बंधन में जाने का दरवाजा है वैसे भीतर घुसकर मोक्ष में जाने का भी। उसी की परीक्षा से, शोधन से हम मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उसे ही पहले 'ईश्वरगर्भ' कहा था। किं च जाग्रत्काल में साहंकार दशा में ही श्रवणादिपूर्वक अखण्डवृत्ति बनेगी इसलिये भी वह अहंकार का सम्बन्ध चाहती है। जैसे पहले 'विनाश' की महत्ता कही थी वैसे यहाँ अहंकार की भी महत्ता है कि उसके सम्बन्ध से ही आत्मविज्ञान हो सकता है। ग़लत अहंकार से क्लेश और सही से उनकी निवृत्ति होती है।—यह है जब आत्मा मोक्ष कहलाता है।

इससे उलटा हो तब आत्मा बंध कहा जाता है।

'ब्रह्म ह'—शब्द से बताया कि पुरातन बात कही जा रही है। प्रसिद्ध है कि ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय पायी। देव-असुर संग्राम में असुरों को

जीतकर विजय और उसका फल देवताओं को ब्रह्म ने ही दिया। असुर किन्हें कहते हैं? जो जगत् के दुश्मन हैं, ईश्वर द्वारा बनायी वर्णाश्रमधर्मादि मर्यादायें तोड़ते हैं वे सभी असुर हैं, पृथ्वी पर हो चाहे लोकान्तर में। ब्रह्म देवताओं को इसलिये जय देते हैं कि जगत् की स्थिरता बनी रहे। इसलिये उस प्राचीन काल में भी ब्रह्म ने अवश्य यह चाहते हुए कि जगत् की स्थिति का परिपालन हो, विजय चाहने वाले देवताओं को असुरों पर विजय दी। देवता कौन होते हैं, जो आत्मानुशासन का अनुवर्तन करते हैं वे देव हैं, चाहे कहीं हों। ब्रह्म जीता' का तात्पर्य है कि भगवदिच्छा के कारण देवताओं की विजय हुई। उस परमेश्वर की वह प्रसिद्ध जीत थी जिसमें महिमा अग्न्यादि देवताओं को मिली। लोकस्थिति में यज्ञादि निमित्त हैं, जिन्हें न करने और न होने देने वाले असुर हैं। वे सब पराजित हो गये तब देवता बढ़ने लगे, संख्या और शक्ति में अधिक होने लगे, तथा पूजा पाने लगे।

देवता वास्तविकता से अपरिचित रहे। जो विजय हुई थी और उससे जो महिमा मिली थी वह थी ब्रह्म की। ब्रह्म की सम्यक् स्थिति आत्मरूप से है, अनात्मा जुड़ते ही स्थिति असम्यक् हो जाती है। क्योंकि वे आत्मा हैं इसलिये प्रत्यक् हैं, 'यह'—इस तरह नहीं मिलते। उनका अखण्ड शासन स्वभावतः चलता है। ऐसा कौन और क्या हो सकता है जो उनकी जानकारी से बाहर हो? जिन्हें यह अभिमान—वहम—है कि 'प्राणों का—मन-इन्द्रिय-वायुवृत्ति आदि का—धारण हम किये हुए हैं अतः हम ही करने वाले और भोगने वाले हैं', ब्रह्म उनसे प्रेमवश उन्हीं के स्तर पर आकर उनका वहम यथासंभव संगत बनाते हैं, वे क्रियायें करें और उन्हें फल से सम्बन्ध हो इसे व्यवस्थित करते हैं ताकि सभी क्रियाओं का जो वास्तविक फल है मोक्ष उसे प्राणी पा लें।

जो कोई शक्ति है वह माया का एकदेश है अतः मायाशक्ति वाले से अन्य किसी की कुछ भी शक्ति हो नहीं सकती। जगत् जैसा रहना चाहिये वैसा रहे, अव्यवस्थित नहीं, इसे वे ही चाहते हैं क्योंकि उन्हीं का यह विलास



है, क्रीडाङ्गण है।

इन बातों को न जानते हुए देवताओं ने सोचा कि अग्नि आदि हमारे व्यष्टि-परिच्छेदों से, नाम-रूपात्मक क्षेत्रों से, सीमित आत्मा के कारण ही हमारी जीत हुई है अतः यह महिमा हमारी—परिच्छिन्नों की ही है। हम जो अग्नि, वायु, इन्द्रादि महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं और विविध सुख भोग रहे हैं वह हमारे किए का ही फल है, हमने असुरों को—आसुर वृत्तियों को—जीता इसी का फल है कि हम अग्नि(=चित्), वायु (=आनन्द), इन्द्र (= सत्) हो गये हैं। हम जो यह जय के फलरूप से मिली महिमा का अनुभव, सुखास्वादन कर रहे हैं वह कार्यकारणबद्ध ही है; हमारे भी जो प्रत्यग् रहता है उस व्यापक, निःसाक्ष्यसाक्षी, बाधावधि महेश्वर की निर्हेतुक कृपा से यह विजय हुई और महिमा मिली—यह जानकारी उन्हें न रही।

'उन देवताओं ने समझ लिया' और इससे आगे की कथा इसलिये सुनायी जा रही है कि अभिमान भ्रम है अतः यह छोड़ने के ही लायक है। विजय तो हुई थी ईश्वर के कारण लेकिन देवों ने अपनी श्रेष्ठता और उसमें निमित्त अपनी ही विजय मान ली। समस्त कल्याणों के निर्व्याज कारण, सभी के स्वरूप, प्रत्यग्रूप से स्थित, जिनसे हटकर कोई कल्याण कहीं नहीं रहता, उन ईश्वर को ही आत्मा उन्होंने समझा नहीं और केवल शरीर में अभिमान वाले बने रहे। ऐसे में उन्होंने जो ग़लत निश्चय किया वह क्योंकि सिर्फ शरीर को सर्वाधिक महत्त्व दे रहा था इसलिए असत्-निश्चय था। सब का आत्मा जो ईश्वर उसकी वास्तविकता की समझ से उसका बाध करना उचित है यह प्रकट करने के लिए 'तद्धैषाम्' आदि कथा चलेगी।

## द्वितीय मन्त्र

**तद्धैषां विजज्ञौ। तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।।३.२।।**

**ह** = निश्चय ही **तत्** = उस ब्रह्म ने **एषाम्** =इन देवताओं के अभिमान को **विजज्ञौ** =समझ लिया। **तेभ्यः** = देवताओं के कल्याण के लिए **ह** =ही **प्रादुर्बभूव** =उनके संमुख प्रकट हुआ। देवता **तत्** = उसे **न** = नहीं **व्यजानत** = जान पाये **इति** = कि **एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष **किम्** = क्या है।

जय और महिमा को अपना ही मान बैठना मिथ्या अभिमान है। ब्रह्म ने यह जाना कि देवताओं को यह ग़लत निश्चय—मिथ्या 'मैं जीता', 'मेरी महिमा' ऐसा आग्रह—हो गया है। सभी प्राणियों के मन आदि सब करणों के प्रयोक्ता होने से, करणों को सक्षम बनाने वाले होते हुए उपयोग में भी लाने से—'मनसो मनः' होने के कारण—ब्रह्म सब का ईक्षिता है, जब तक सब हैं तब तक सबको देखने वाला है, 'अभिचाकशीति'। सब का उससे दीखना ही सब के प्रयुक्त रहने के लिए पर्याप्त है। वह देखता नहीं, करणादि भले ही उससे दीखे हुए बने रहते हैं।

देवों के इस अभिमान को देखकर, उनके देवत्व का विचार कर ब्रह्म ने सोचा कि देवता भी असुरों की तरह मिथ्या अहंकार से कहीं हारने वालों की ही जमात में न मिल जायें। इसलिए ब्रह्म ने देवताओं पर अनुग्रह करने का संकल्प किया कि 'इनका मिथ्या अभिमान हटा दूँ।' देवता कुछ न कुछ ईश्वरीय चेष्टाओं वाले थे ही अतः ईश्वर ने उन्हें यत्नशील देखकर कृपा की। हमारे कम्पों को निमित्त बनाकर ईश्वर अनुकम्पा कर देते हैं। इस तरह देवताओं के हित के लिए ब्रह्म आविर्भूत हुए। असंभव कार्यों की भी जिससे जुगाड़ हो जाती है उस अपनी शक्तिभूत त्रिगुणात्मिका माया के अनिर्वचनीय सामर्थ्य से उन्होंने एक अत्यन्त अद्भुत, चमत्कृत करने वाला रूप बनाया और क्योंकि देवताओं का प्रयोजन साधना था इसलिए जहाँ से वे देख सकें ऐसे उनके निकटवर्ती स्थान पर ब्रह्म प्रकट हो गये।

महेश्वर की शक्तिभूत माया से उन्हीं ने जो कोई अजब रूप ग्रहण किया था उसे देखते हुए भी देवता यह न समझ पाये कि 'यह यक्ष क्या है।' वह



महान् चेतनपिण्ड पूज्य है इतना तो उन्हें प्रतीत हुआ पर वह है कौन, उसके सामर्थ्यादि कितने हैं आदि कुछ वे नहीं जान पाये।।२।।

## तृतीय मन्त्र

**तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति। तथेति।।३.३।।**

**ते** = वे सभी देवता **अग्निम्** = अग्निदेव से **अब्रुवन्** = बोले **जातवेद** = हे जातवेद! **एतद्** = यह **विजानीहि** = पता लगाओ **इति** = कि **इदम्** = यह **यक्षम्** = यक्ष **किम्** = कौन है? अग्निदेव ने कहा **इति** = कि **'तथा** = ऐसा करता हूँ।'

यक्षरूप ब्रह्म को न जानते हुए देवों को भीतर ही भीतर डर लगा लेकिन देव होने के कारण जिज्ञासु भी हो गये अतः अग्निदेव को उसे जानने के लिए सबने कहा। अग्रणी होने से वे अग्नि कहे जाते हैं। जो कुछ भी उत्पन्न है सब को जानने से वे जातवेदस् भी कहलाते हैं। अज को तो नहीं जान पाये अतः सर्वज्ञ न सही, काफी हद तक सर्वज्ञ के करीब हैं। देवों ने उनसे कहा कि 'हम सभी को जो यह विचित्र पूज्य देहधारी दीख रहा है उसे पूरी तरह समझो, उसकी असाधारणता की जानकारी पाओ। हम सब में तुम तेजस्वी हो अतः तुम इस यक्ष की यथार्थता का पता लगाओ।' अग्निदेव ने जवाब दिया 'ऐसा ही करता हूँ।'

## चतुर्थ मन्त्र

**तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।।३.४।।**

**तद्** = उस यक्ष के पास **अभ्यद्रवत्** = अग्नि पहुँचा। **तम्** = उससे **अभ्यवदत्** = यक्ष ने पूछा **इति** = कि **' कः** = तुम कौन **असि** = हो?' **अब्रवीत्** = अग्नि बोला **इति** = कि **'अहम्** = मैं **वै** = अवश्य ही **अग्निः**

= अग्नि **अस्मि** = हूँ।' **इति** = उसने यह भी जोड़ा कि '**अहम्** = मैं **जातवेदा** = जातवेदा नाम से **वै** = प्रसिद्ध **अस्मि** = हूँ।'

अग्नि उस यक्ष की ओर गया। चाहता तो था वह यक्ष से उसके बारे में पूछना पर यक्ष के निकट पहुँचकर हिम्मत खो बैठा और चुप-चाप खड़ा रहा। तब यक्ष ने ही उससे पूछा 'तुम कौन हो?' इससे कुछ साहस पाकर वह देवप्रतिनिधि बोला 'मैं अग्नि नाम से प्रसिद्ध हूँ और मुझे जातवेदा समझा जाता है।' यों दो नाम बताकर वह अपनी प्रशंसा खुद ही कर रहा था।

### पञ्चम मन्त्र

**तस्मिँ स्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।३.५।।**

यक्ष ने पूछा **इति** = कि '**तस्मिन्** = यों प्रसिद्ध नामादि वाले **त्वयि** = तुम में **किम्** = क्या **वीर्यम्** = सामर्थ्य है ?' उसने जवाब दिया **इति** = कि– '**अपि** = यह संभव है कि **पृथिव्याम्** = पृथ्वी पर **यद्** = जो **इदम्** = यह सूखी-गीली चीजें हैं, **इदम्** = इन **सर्वम्** = सब को **दहेयम्** = जला डालूँ!'

अग्नि ने यों कहा तो यक्षरूपधारी परमेश्वर बोले, 'यों प्रसिद्ध गुण और नाम वाले तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ?' अग्नि ने कहा, 'मैं इस सारे जगत् को भस्मसात् कर सकता हूँ। पृथ्वी पर चराचर जो है सब जला सकता हूँ।' 'पृथ्वी' से अंतरिक्षादि भी समझने चाहिये क्योंकि अग्नि तो वहाँ भी जला ही डालता है।

### षष्ठ मन्त्र

**तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।।३.६।।**



यक्ष ने **तस्मै** = अग्नि के सामने **तृणम्** =एक तिनका **निदधौ** = रख दिया। **इति** = और कहा कि '**एतत्** = इसे **दह** = जलाओ।' अग्नि **सर्वजवेन** = पूरे वेग से **तत्** = तिनके की ओर **उपप्रेयाय** = गया, लेकिन **तत्** = उसे **दग्धुम्** = जला **न** = नहीं **शशाक** = सका। **सः** = वह **ततः** = यक्ष के सामने लज्जित होने से **एव** = ही **निववृते** = लौट आया और देवताओं से **इति** = यों बोला '**यत्** = जो **एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष है **एतत्** = इसे **विज्ञातुम्** = जान **न** = नहीं **अशकम्** = पाया।'

पूर्वोक्त ढंग से जिसने अपना अहंकार व्यक्त किया उस अग्नि के संमुख ब्रह्म ने एक तिनका स्थापित किया। इसमें ब्रह्म का अभिप्राय था कि खुद को बहुत बड़ा मानने वाले अग्नि और वायु जब एक छोटे-से तिनके को भी जला-उड़ा नहीं पायेंगे। तो इनका अभिमान समाप्त हो जायेगा।

तिनका रखकर मानो ब्रह्म ने यह कहा—'यह एक छोटा-सा तिनका ही है, मेरे सामने इसे जलाओ। अगर जला न सको तो कुछ भी जला पाने का अभिमान छोड़ दो।' अतः पूरे उत्साह से अग्नि जलाने गया पर जला न सका।

तिनका भी न जला पाने से जातवेदा लज्जित हो गये। प्रतिज्ञा तो की थी 'मैं पता लगाकर आता हूँ' पर बिना प्रतिज्ञा पूरी किये चुपचाप उस यक्ष के पास से देवसभा में लौट आये। आकर देवताओं को बता दिया 'मैं कुछ ख़ास बात इस यक्ष के बारे में नहीं जान पाया'।।६।।

### मन्त्र ७ से १०

**अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति।।३.७।।**

**तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।३.८।।**

**तस्मिँ स्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ।।३.९।।**

**तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति। ।३.१०।।**

**अथ** = फिर देवताओं ने **वायुम्** = वायु से **अब्रुवन्** = कहा— **'वायो** = हे वायुदेव ! **एतत्** = यह **विजानीहि** = पता लगाओ **इति** = कि **एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष **किम्** = क्या है? **इति** = वायु ने कहा कि **'तथा** = ऐसा ही करता हूँ।'

वायु **तत्** = उसकी ओर **अभ्यद्रवत्** = गया। ब्रह्म ने **तम्** = वायु से **अभ्यवदत्** = पूछा **इति** = कि **'कः** = कौन **असि** = हो ?' वायु ने इति = यह **अब्रवीत्** = जवाब दिया **इति** = कि **'अहम्** = मैं **वायुः** = वायु **वै** = ही **अस्मि** = हूँ, **मातरिश्वा** = मातरिश्वा नाम से **अहम्** = मैं **वै** = प्रसिद्ध **अस्मि** = हूँ।'

यक्ष ने प्रश्न किया **इति** = कि **'तस्मिन्** = इन नामों वाले **त्वयि** = तुम्हारा **वीर्यम्** = सामर्थ्य **किम्** = क्या है ?' वायु बोला **इति** = कि **'अपि** = यह सम्भव है कि **पृथिव्याम्** = पृथ्वी पर **यद्** = जो **इदम्** = ये हल्की भारी चीजें हैं **इदम्** = इन **सर्वम्** = सब को **आददीय** = लेकर उड़ जाऊँ।'

यक्ष ने **तस्मै** = वायु के सामने **तृणम्** = एक तिनका **निदधौ** = रखा **इति** = और कहा कि **'एतत्** = इसे **आदत्स्व** = लेकर उड़ो।' वायु **तत्** = तिनके की ओर **सर्वजवेन** = पूरे जोर से **उपप्रेयाय** = गया, लेकिन **तत्** = उसे **आदातुम्** = लेकर उड़ **न** = न **शशाक** = सका **सः** = वह **ततः** = लज्जा के कारण **एव** = ही **निववृते** = लौट आया **इति** = और बोला कि **'यत्** = जो **एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष है **एतत्** = इसे **विज्ञातुम्** = समझ **न** = नहीं **अशकम्** = सका।'

देवताओं को जब निश्चय हो गया कि अग्नि यक्ष के बारे में विशेष जानकारी पाने में असफल रहे तब वे वायुदेव से बोले 'हे वायु! आप ही पता



लगाइये।' इन्हें वायु इसलिए कहते हैं कि वे गमन करते हैं, बहा करते हैं अथवा इसलिए भी कि वे महकते हैं, गंध-वहन करते हैं। वे मातरिश्वा हैं क्योंकि अंतरिक्ष में संचरण करते हैं। हाल वायु का भी वही हुआ जो अग्नि का हुआ था। वे भी बेइज्जत होकर बिना जानकारी पाये ही लौट आये।

### एकादश मन्त्र

**अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे। ।३.११।।**

**अथ** = तब देवों ने **इन्द्रम्** = इन्द्र से **अब्रुवन्** = कहा **इति** = कि **'मघवन्** = हे पूज्य इन्द्र! **एतत्** = यह **विजानीहि** = पता लगाओ कि **एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष **किम्** = क्या है ?' **इति** = इन्द्र ने जवाब दिया **'तथा** = ऐसा ही करता हूँ।' **तत्** = उसकी ओर **अभ्यद्रवत्** = गया लेकिन वह यक्ष **तस्मात्** = इन्द्र से **तिरोदधे** = छिप गया।

पहले की ही तरह देवताओं ने इन्द्र से कहा, उसने स्वीकारा और यक्ष की ओर साभिमान गया! इन्द्र से यहाँ देवताओं में उच्चतम शासनाधिकारी, देवराज, कहा गया है। अदितिसुतों में वह श्रेष्ठ है, वज्रधारी रूप से प्रसिद्ध है। यद्यपि देवता उससे शासित होने से उसे आज्ञा नहीं दे सकते तथापि अपनी कोशिशें विफल देखकर अपने राजा से ही प्रार्थना करें इसमें कुछ अन्याय नहीं है। इन्द्र को मघवान् भी कहते हैं क्योंकि वह बलशाली है। जब देवाधिप आत्मा के समीप पहुँचा तब ब्रह्म तिरोभूत हो गया, लापता हो गया।

ब्रह्म ने देखा कि 'इन्द्र को इन्द्र होने का बहुत ज्यादा अभिमान है अतः इसका गर्व और अधिक चूर्ण करना चाहिये', इसलिये उन्होंने उसे बात करने का मौका भी नहीं दिया। 'मैं इन्द्र हूँ, देवराज हूँ, देवताओं का भी पूज्य हूँ' आदि बहुत अधिक अभिमान इन्द्र को था। जब वह देखेगा कि 'अग्नि आदि कम-से-कम इससे बात तो कर गये थे, मुझे तो इतना भी मौका नहीं मिला'

तो वह अभिमान कैसे नहीं छोड़ेगा? यह यक्ष का आशय था। इसलिए ब्रह्म जो तिरोहित हुए वह इन्द्र पर कृपा करने के ही कारण था।

## द्वादश मन्त्र

**स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानमुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ।।३.१२।।**

**तस्मिन्** = उस **एव** = ही **आकाशे** = जगह **सः** = इन्द्र **स्त्रियम्** = एक स्त्री को देखकर **आजगाम** = उसके पास आया। **बहुशोभमानाम्** = बहुत शोभा वाली **ताम्** = उस **उमाम्** = उमा **हैमवतीम्** = हैमवती से उसने **उवाच** = पूछ **ह** = ही लिया **इति** = कि **'एतत्** = यह **यक्षम्** = यक्ष **किम्** = क्या था ?'

जिस जगह खुद को दिखा कर यक्षदेव अंतर्धान हुए थे वहीं इन्द्र भी खड़ा था और 'वह यक्ष क्या था ?' यह सोचते हुए वह उसी जगह रुका रहा, अग्नि-वायु की तरह लौटा नहीं।

यक्ष में इन्द्र की भक्ति देखकर विद्या वहाँ प्रकट हुई। है तो विद्या उमा-रूप वाली, महादेव की शक्ति, किन्तु प्रकट वह एक स्त्री के रूप में हुई। इन्द्र उस समय शान्त मन वाला था और अतितीव्र जिज्ञासा ब्रह्म के बारे में उसे थी। अतिसुन्दर स्त्री रूप में व्यक्त विद्या को उसी जगह देखकर इन्द्र उसके पास आ गया। उमा बहुत ही शोभित हो रही थी। समस्त रहस्यविद्याओं के वास्तविक अभिप्राय को, तात्पर्य विषयीभूत अर्थ को समझाने वाली होने से रुद्रपत्नीरूपिणी विद्या ही ऐसी शोभा से उद्दीप्त थी मनो बहुमूल्य स्वर्णाभरणों से सुसज्जित कोई दिव्य रूपसी हो। जितने पदार्थ शोभित होते हैं उनमें सर्वाधिक शोभित होने वाली है विद्या। लोक में कोई कुरूप भी हो लेकिन उसकी विद्या प्रशस्त हो तो वह व्यक्ति शोभित ही होता है। अतएव विद्या को 'बहुशोभमाना' अर्थात् अत्यधिक शोभित होने वाली कहा।



स्वर्णनिर्मित आभरणों से विभूषित की तरह बहुत शोभा वाली या हिमालय की पुत्री हैमवती के पास इन्द्र यह सोचकर आया कि 'ये सर्वज्ञ ईश्वर के साथ हमेशा रहती हैं अतः जरूर यह रहस्य जान सकती हैं।' अतः उसने उनसे पूछा 'स्वयं को दिखाकर छिप जाने वाला यह यक्ष क्या था, बताइये।'

**।। इति तृतीय खण्ड।।**

## चतुर्थ खण्ड

### प्रथम मन्त्र

**सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव, विदाञ्चकार ब्रह्मेति।।४.१।।**

**सा** = उमा देवी ने **ह** = निश्चित रूप से **उवाच** = कहा **इति** = कि **'ब्रह्म** = ब्रह्म' **इति** = और यह भी कहा कि **'एतत्** = यह जो **महीयध्वम्** = तुम लोग महिमा पा रहे हो वह **ब्रह्मणः** = ब्रह्म की **वै** = ही **विजये** = जीत के कारण है।' **ह** = अवश्य ही इन्द्र ने **ततः** = उससे **एव** = ही **'ब्रह्म** = ब्रह्म' **–इति** = यह **विदाञ्चकार** = जाना।

उमा ने कहा 'ब्रह्म।' ईश्वर की ही जीत हुई थी जिसमें तुम गर्वित हो गये थे। जीते तो असुर ईश्वर ने थे पर केवल निमित्त, बहाना, तुम्हें बना लिया था, उतने में ही तुम फूल गये! तुम लोग ईश्वर की विजय में ही महिमा पाओ। यह जो तुमने सोचा था, निश्चय किया था कि 'हम ही जीते हैं, हमारी ही यह महिमा है', यह तो तुम्हारा मिथ्या अभिमान था।

'उमा से पूछकर उन्हीं के वचन से इन्द्र से ब्रह्मानुभव पाया। श्रुति ने 'एव' (ही) कहकर स्पष्ट कर दिया कि स्वतंत्र होकर यह साक्षात्कार नहीं मिल सकता, गुरु से ही मिलेगा।

इन्द्र को जो आत्मबोध हुआ उसमें हेतु बनी उमा अतः विद्या ही उमा है। स्मृति में भी कहा कि ईश्वर की सहचर है विद्या।

### द्वितीय मन्त्र

अग्नि, वायु और इन्द्र—ये देव परमात्मा के निकट पहुँचे, उनका दर्शन कर पाये और अग्नि-वायु ने उनसे बात की, इसलिये ये श्रेष्ठ हैं। पहले इन्द्र से फिर अन्य दोनों ने ब्रह्मज्ञान से परमेश्वर को प्रत्यग्रूप से पाया। पहले-पहल



जानने वाले होने से उनकी महत्ता है यह मन्त्र से कहा जा रहा है।

**तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।४.२।।**

**यत्** = जो प्रसिद्ध **अग्निः** = अग्नि **वायुः** = वायु **इन्द्रः** = और इन्द्र देव हैं, उन्होंने **हि** = क्योंकि **एनत्** = इस यक्ष को **नेदिष्ठम्** = बहुत पास से **पस्पृशुः** = छुआ, **प्रथमः** = पहले पहल इसे **ब्रह्म** = 'ब्रह्म' **इति** = ऐसा **विदाञ्चकार** = जाना, **तस्मात्** = इसलिये **वै** = ही **एते** = ये **देवाः** = देव **अन्यान्** = अन्य **देवान्** = देवताओं से **अतितराम्** = अधिक दीप्तिमान् **इव** = ही हैं।

क्योंकि लब्धब्रह्मदर्शन हैं इसलिये अग्नि आदि तीनों देवताओं की विद्यमानता ही अन्य देवताओं से अतिशय वाली है। इनमें ईश्वरता के गुण अधिक हैं। महान् सौभाग्य रूप शुद्ध शक्ति, सद्गुण आदि से ये सर्वाधिक परिपूर्ण हैं। इस बात में कोई सन्देह नहीं। श्रुति में 'इव' शब्द 'एव' के अर्थ में है। यह इतना स्पष्ट है और वाक्य की सावधारणता इतनी प्रसिद्ध है कि यह भी कह सकते हैं कि किसी खास प्रयोजन से 'इव' नहीं कहा; यह न भी कहते तो भी बात यही व्यक्त होती। या अन्य देवता अपनी तौहीन मानकर दुःखी न हों, कोई अल्पमेधा अन्यों का निरादर न करे, इसलिये 'इव' कहा! इन देवों की अतिशयता में कारण है कि पूर्वोक्त बातचीत आदि ढंगों से इन्होंने निकटतम प्रियतम का स्पर्श किया। जो अपने प्रियतम का निकटतम स्पर्श पाये वही बड़भागी प्रसिद्ध भी है। इस तरह के स्पर्श के लिए उसे अपने बहुत पास लाना पड़ता है, वह हममें—हम उसमें हों, हम दो न रहें, तभी निकटतम स्पर्श है, जब तक ईश्वर मैं नहीं हो, मैं ईश्वर न हो जाऊँ तब तक न वह प्रियतम है, न उसका स्पर्श निकटतम। होगा यह यथोक्त प्रकारों से ही। इन देवताओं ने प्रधान रहते हुए 'ब्रह्म' – यह समझा, इसलिए उनकी दीप्ति अन्य देवताओं से अधिक है।

## तृतीय मन्त्र

अग्नि और वायु ने भी यक्ष की वास्तविकता इन्द्र के वाक्य से ही समझी। इन तीन देवों में भी सबसे पहले तो इन्द्र ने ही भगवती उमा के वाक्य से 'ब्रह्म' यह उपदेश सुना और समझा। इसलिए इन तीनों में भी इन्द्र की दीप्ति और ज्यादा है यह तीसरा मंत्र कह रहा है।

**तस्माद्वा इन्द्रो ऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।। ४.३।।**

**हि** = क्योंकि **इन्द्रः** = इन्द्र ने **एनत्** = इसे **नेदिष्ठम्** = बहुत ही पास से **पस्पर्श** = छुआ, **सः** = उसने **हि** = ही **एनत्** = इसे **'ब्रह्म** = ब्रह्म' **इति** = ऐसा **प्रथमः** =सबसे पहले **विदाञ्चकार** = अनुभव किया, **तस्माद्** = इसलिए **वै** = ही **सः** = वह **अन्यान्** = अन्य **देवान्** = देवों से **अतितराम्** = अधिक तेजस्वी **इव** = ही है।

पूर्व कथा से स्पष्ट है कि अन्य देवताओं से इन्द्र का अधिक अतिशय है। सर्वप्रथम ब्रह्मसाक्षात्कार पाने से वह अग्नि-वायु से भी ज़्यादा दीप्ति वाला है। सर्वाधिक निकटता से और सभी से पहले समझने वाला वही तो है।।३।।

## चतुर्थ मन्त्र

**तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्।।४.४।।**

**तस्य** = उस ब्रह्म के बारे में **एषः** = यह **आदेशः** = सोदाहरण उपदेश है : **यत्** = जो **एतत्** यह **आ** = जैसे **विद्युतः** = बिजली का **व्यद्युतत्** = चमकना होता है **इत्** = और **आ** = जैसे **न्यमीमिषत्** = पलकों का झपकना होता है; ऐसा वह ब्रह्म है। **इति** = इस तरह **अधिदैवतम्** = देवता सम्बन्धी कार्यों के सहारे उपदेश है।



अब जो बतायेंगे वह उपमा के सहारे ब्रह्म का उपदेश है। इसे ही यहाँ आदेश कहा है। है यह उसी ब्रह्म का उपदेश जो 'केनेषितम्' से पूछा गया और जिसने यक्षरूप से दर्शन दिया। उपमा इसलिए है कि उपासना संभव हो। भले ही ब्रह्म के लिए कोई समुचित दृष्टान्त न हो, फिर भी जिस किसी से उसकी समानता दी जाती है वह भी दृष्टान्त तो है ही। ऐसे दृष्टान्त के साथ ब्रह्म बताने के लिए 'आदेश' शब्द है।

वह उपमान है क्या ? जो यह सर्वलोक-प्रसिद्ध बिजली का चमकना है—यह उपमान है। 'व्यद्युतत्' का शाब्दिक अर्थ है 'चमकना किया।' क्योंकि यह अर्थ प्रकृत में संगत नहीं इसलिए यह समझना चाहिये कि 'व्यद्युतत्' का अर्थ है 'विद्योतन'।

देवताओं पर कृपाकर उनके संमुख परमात्मा अचानक ही बिजली की तरह प्रकट हुए और वह रूप चमकदार था। अतः जैसे प्रसिद्ध बादलों की बिजली का चमकना होता है वैसे यह हुआ जो ब्रह्म का (यक्षरूप से) चमकना था। जैसे घने अन्धेरे को काटकर बिजली सब ओर प्रकाशती है ऐसे वह परमेश्वर देवताओं के सामने व्यक्त हुए थे, सब ओर प्रकाश रहे थे।

अतः 'चमकने की तरह'—यह उपासना करनी चाहिए। बृहदारण्यक में भी ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त दो रूपों का प्रसंग उठाकर करणात्मा पुरुष के रूप का दृष्टान्त देते हुए कहा है 'जैसे एकबार बिजली-चमकना होता है ऐसे कुछ वासनाएँ उत्पन्न होती है'। अव्याकृत से (अर्थात् ईश्वर से) प्रादुर्भूत होते हुए हिरण्यगर्भ की वासनाएँ बिजली की तरह एक बार में ही उद्बुद्ध हो जाती हैं। और तदनुसार वस्तुएँ प्रकट होती हैं। हिरण्यगर्भ को एक बार में ही सारी उपयुक्त स्मृति आ जाती है, उन्हें याद करने के लिए जोर नहीं लगाना पड़ता, यह उनके ज्ञान की सहसिद्धता है। बिजली की तरह सब वासनाओं की उद्बुद्धता को वहाँ उपास्य कहा है, ख्यातिलाभ फल बताया है। यहाँ भी बिजली

की तरह एक बार खुद को दिखाकर ब्रह्म देवताओं के लिए छिप ही गए थे। अतः जैसे बृहदारण्यक में हिरण्यगर्भ की उपासना विहित है वैसे यहाँ भी बिजली की तरह चमकना रूप से उपासना विहित समझनी चाहिये। ईश्वरोपासना होने पर भी अधिदैवतम् से देवपरिच्छेद में होने के कारण यह भी हिरण्यगर्भरूप की उपासना है। अतः बृहदारण्यक की समानता स्फुट है।

यदि 'व्यद्युतत्' से 'विद्योतनम्' समझने में क्लेश हो तो 'तेज' शब्द का अध्याहार कर यह वाक्यार्थ समझना चाहिये : जैसे बिजली का तेज एक बार में ही पूरा चमक जाता है, ऐसा वह ब्रह्म है।

श्रुति में 'इति' से 'आदेश' शब्द का परामर्श कर दिया और 'इति' से दोनों आदेशों को जोड़ दिया। अर्थात् चमकने और पलक झपकन के आदेशों का समुच्चय है।

इन्द्र पास आया तो यह ब्रह्म वैसे ही लापता हो गया जैसे कोई पलक झपक ले! इस प्रकार यह दूसरा आदेश भी स्पष्ट हो गया—'जैसे आँख झपकना' 'न्यमीमिषत्' में णिच् का प्रयोजकत्व अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। निमिष + णिच् + चङ् + लुङ् —यह उस शब्द का निर्माण है। 'णिश्चि.' (३.१.४८) आदि से चङ् होता है। लेकिन णिच् अपना अर्थ न कहकर धात्वर्थ ही कहता है। 'इति' और 'इत्' के जो अर्थ कहे हैं उनसे अन्य कोई अर्थ 'न्यमीमिषत्' के सन्दर्भ में नहीं है। 'आ' भी पूर्ववत् उपमा बताने के लिए है। पलक-झपकने की तरह यक्ष छिपा था। प्रकाश चक्षुर्विषय हो और अचानक लुप्त हो जाये, ऐसा वहाँ हुआ था। इस तरह देवता के सम्बन्ध में यह ब्रह्म के लिए उपमान दिखाया है।

### पञ्चम मन्त्र

**अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ।।४.५।।**



**अथ** = अब **अध्यात्मम्** = प्रत्यगात्मसम्बन्धी आदेश बताया जा रहा है : **मनः** = मन **यत्** = जिस प्रकृत **एतत्** = इस बुद्धिसाक्षी की ओर **इव** = मानो **गच्छति** = जाता है **च** = और साधक **अनेन** = इस मन से **एतत्** = प्रत्यगभूत ब्रह्म को **उपस्मरति** = 'अति समीप है' यों याद करता है तथा **अभीक्ष्णम्** = बार-बार अधिकाधिक गंभीरता से **सङ्कल्पः** = ब्रह्मविषयक संकल्प करता है (उस ब्रह्म का ऐसे ही ध्यान करे कि मन जिधर जा रहा है, यथोक्त स्मरण व संकल्प कर रहा है, वह ब्रह्म है)।

अधिदैव आदेश के बाद आत्मविषयक आदेश सुना रहे हैं। था तो पूर्व भी आत्मविषयक ही लेकिन वह ईश्वरात्मविषयक और यह प्रत्यग्रूप से भासमान आत्मा का आदेश है। मन जिसकी ओर मानो जाता है, जिसे विषय करता-सा लगता है वह ब्रह्म है। ज्योतिरूप आदि पूर्वदर्शित असाधारण धर्मों वाला ब्रह्म है नहीं अतः 'मानो' कहा। पहले कह ही चुके हैं कि परमात्मा तो मन का भी मन है! मन ही उसके द्वारा मत होता, विषय होता है। फिर भी लगता यही है कि मन उसे विषय कर रहा हो। देखते हम हैं पर लगता है प्रतिबिम्ब हम पर घूर रहा है!

ब्रह्म हमारा आत्मा हो रखा है अर्थात् ब्रह्म ऐसा 'बन' गया है कि हम उसे 'मैं' समझते हैं। मैं हुए ब्रह्म के पास पड़ा ही मन सारे कार्य करता है। इसलिए जो जानकार साधक है, जिसने मैं के और ब्रह्म के बारे में शास्त्र से काफ़ी कुछ समझ लिया है तथा उस सच्चाई को अनावृत करने में तत्पर हो यत्नशील है, वह बार-बार मन से ब्रह्म को अपने निकटवर्ती के रूप में याद करता रहता है। यह उसे याद बना रहता है कि परमात्मा उसके बहुत करीब है। यह याद से ही कहा कि मन मानो ब्रह्म की ओर जाता है। मन को कार्यरत करने वाला तो ब्रह्म ही है अतः साधक के मन का संकल्प भी बारम्बार ब्रह्मविषयक ही होता है : जब ब्रह्म को यह दृढ अभिमान हो जाता है कि 'मैं साधक हूँ' तब वह मन को इसी काम में लगाता है कि मन ब्रह्म को ही

समझे। संकल्प शब्द मनोव्यापारवाची प्रसिद्ध है।

क्योंकि मन ब्रह्म की उपाधि है इसलिए मन की संकल्प, स्मृति आदि वृत्तियों से ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है। मन ब्रह्म की उपाधि है अतएव लगता है कि ब्रह्म मन का मानो विषय बन रहा हो जैसे मुँह दर्पण का विषय बनता है। इसलिए स्वयं साधक ही ब्रह्म का अध्यात्म उपदेश हो गया, वही प्रतीक बन गया जिसे ब्रह्म समझना है।

इसलिए उपस्मरण, संकल्प आदि लिंगों से, चिह्नों या स्मारकों से, मन आदि में आत्मभूत—प्रत्यग्भूत, प्रति रूप से स्थित, प्रकाशक, प्रेषिता—ब्रह्म की उपासना करे, यह तात्पर्य है।

अधिदैव में बिजली और पलक झपकने की तरह शीघ्र और सबको भासित करने के धर्म वाला ब्रह्म है एवं अध्यात्म में मनोवृत्तियों के समय अभिव्यक्तिरूप धर्मवाला, अभिव्यक्त होने वाला, ब्रह्म है; यह आदेश हुआ। जो परमात्मा के अखण्डसाक्षात्कार में असमर्थ मंदाधिकारी हैं उन्हें इसी ढंग से ब्रह्म हृदयंगत होता है अतः यह ब्रह्म का आदेशरूप उपदेश यहाँ दिया। मंदाधिकारी पहले ही निरुपाधिक ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर पाते। इस उपासना से शक्ति पाकर तो संभव है कि तत्त्वसाक्षात्कार भी पा लें।।५।।

## षष्ठ मन्त्र

ब्रह्म की पूर्वोक्त अध्यात्म उपासना में अंगरूप से 'तद्वन' नामोक्त गुण का भी चिंतन करना चाहिये यह छठे मन्त्र में कहते हैं

**तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभिहैनँ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।।४.६।।**

**ह** = अवश्य ही **तत्** = ब्रह्म **तद्वनम्** = 'तद्वन' नाम = नाम वाला है अतः उसकी **तद्वनम्** = 'तद्वन' **इति** = ऐसे **उपासितव्यम्** = उपासना करनी



चाहिये। **एतत्** = ब्रह्म की **सः** = वह **यः** = जो **एवम्** = इस तरह **वेद** = उपासना करता है **एनम्** = उस उपासक **की ह** = जरूर **सर्वाणि** = सब **भूतानि** = प्राणी **अभिसंवाञ्छन्ति** = प्रार्थना-सेवा करते हैं।

वह ब्रह्म अवश्य ही तद्वन नाम का है। तद्वन एक शब्द है जिसके दो हिस्से हैं तद् और वन, इसका षष्ठी समास होकर 'उसका वन' इस अर्थ से तद्वन शब्द बना है। 'उसका' सभी प्राणियों का; प्राणिसमूह के लिए तत् (उस) का प्रयोग है, सब प्राणियों का यह वन है अर्थात् वनन के योग्य है। वनन का मतलब है सम्भजन—भली-भाँति सेवन। भ्वादि में 'वन शब्दे' और 'वन सम्भक्तौ' धातु हैं, यहाँ 'सम्भक्तौ' धातु से वन शब्द समझना चाहिये। सभी का प्रत्यगात्मा हुआ वही ब्रह्म है और सभी सबसे सम्यक् भजन प्रत्यगात्मा का ही करते हैं अतः वह सबका वन है ही। इसलिये शास्त्रीयों में ब्रह्म तद्वन नाम से प्रसिद्ध है।

'तत्' अर्थात् प्रकृत ब्रह्म ही वन भी है। 'तत्' कहने से परोक्षता का उल्लेख हुआ और 'वन' कहने से संभजनीय प्रत्यक् का। सामानाधिकरण्य से इनका अभेद स्पष्ट है : जो परोक्ष है, अधिदैव उपास्य है, वही प्रत्यक् है, अध्यात्म उपास्य है। परोक्ष-अपरोक्ष दोनों रूप ग्रहण करने वाला होने से ब्रह्म को तद्वन कहते हैं। वास्तव में तो न वह दूर है और न जैसा हम बुद्धि के निकट उसे समझते हैं वैसा पास है क्योंकि उसकी निकटता बुद्धिसापेक्ष नहीं, प्रत्यक्प्रकाशमात्र है। अतः 'तद्वन' उसका गौण ही नाम है; दूरता-निकटता को संभव बनाने वाली उपाधियाँ मानकर यह नाम उसे दिया गया है।

क्योंकि ब्रह्म तद्वन है इसलिए 'तद्वन' इस गुणसूचक नाम से ही उसका चिंतन प्रकृत उपासना में करना चाहिये।

तद्वन नाम से पूर्वदर्शित विशेषताओं वाले परमेश्वर की उपासना जो कोई भी करे उसे फल क्या मिलता है यह बताते हैं: सभी भूत अर्थात् प्राणी हर

तरह उसकी प्रार्थना और सेवा करते हैं। उपासना के फल के बारे में प्रसिद्ध नियम है कि जिस गुण के उल्लेख से उपासना की जाती है वही गुण उपासक में आ जाता है। उपासक लोग उपासना करते समय परमेश्वर से ही प्रार्थना करते थे, परमेश्वर की ही सेवा करते थे अतः उपासना पक जाने पर ये उपासक भी प्रार्थनीय, सेवनीय बन जाते हैं। लोग भी जैसे ब्रह्म से प्रार्थना और उसकी सेवा करते हैं वैसे ब्रह्मवेत्ता से प्रार्थना करते हैं, उसकी सेवा भी करते हैं।

## सप्तम मन्त्र

यक्ष-कथा सुनाकर नाम समेत अधिदैव-अध्यात्म उपासना और उसका फल जिसे समझा दिया वह शिष्य आचार्य से कहता है—

**उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।। ४.७ ।।**

**इति** = शिष्य बोला **'भो** = हे आचार्य ! **उपनिषदम्** = उपनिषत् **ब्रूहि** = सुनाइये।'

**इति** = आचार्य ने कहा **'ते** = तुम्हे **उपनिषत्** = उपनिषत् **उक्ता** = सुना दी। **ते** = तुम्हें **ब्राह्मीम्** = परमात्मसंबंधी **वाव** = ही **उपनिषदम्** = उपनिषद् **अब्रूम** = सुनायी है और इसी के लिए कुछ और भी सुनाने जा रहे हैं।

शिष्य ने कहा 'हे भगवान्! जो रहस्यभूत चिन्तनीय बात हो वह बताइये।' जब शिष्य ने यह निवेदन किया तब आचार्य बोले—'तुम्हें रहस्यविद्या सुना ही दी।'

आचार्य ने उपनिषत् तो सुना ही दी थी। फिर भी जब शिष्य ने कहा 'उपनिषत् सुनाइये', तो आचार्य बोले, 'तुम्हें रहस्यविद्या और आत्मा की उपासना तो बता ही दी। अब तुम्हें वह सुनाता हूँ जो ब्राह्मी विद्या है। ब्राह्मी



अर्थात् ब्रह्म की। ब्रह्म से यहाँ ब्राह्मण जाति वाले समझने चाहिये। आत्ममात्र-सम्बन्धी विद्या तो कह चुका हूँ पर ब्राह्मण क्या करे कि उस विद्या का अधिकारी बने, यह नहीं कहा। अतः ब्राह्मी विद्या अब बताता हूँ।' इसलिए 'अब्रूम' शब्द सिर्फ पूर्व कथित के लिए ही हो ऐसा नहीं, आगे कही जाने वाली के लिए भी है।

'जो कह चुके वह उपनिषत् कौन-सी है ?' इस पर गुरु कहते हैं : 'जो अनुभवावसायी विद्या सुनायी थी वह ब्राह्मी है, ब्रह्म अर्थात् परम-आत्मा की है, उसी के बारे में है। 'वाव' अर्थात् 'ही'। वह विद्या ब्रह्म के ही बारे में है। उस उपदेश के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ में किसी सन्देह का स्थान नहीं। वही विद्या ब्राह्मी है; विदिताविदित से अन्य के बारे में कहे तभी ब्रह्मोपदेश है, विदित या अविदित के बारे में जो उपदेश होगा वह परा विद्या नहीं होगा, कर्म-उपासना (अविद्या और विद्या जो ईश में कही है) के क्षेत्र में रहने वाला उपदेश होगा इसलिये न यह शंका हो सकती है कि उक्त विद्या ब्रह्मविषयक है या नहीं; न यह कि वह विद्या ब्रह्म को बताती है या नहीं; और न यह कि इससे अन्य भी कोई ब्रह्मविद्या है या नहीं। तीनों व्यावृत्तियाँ समझ लेनी चाहिये। परमात्मा के बारे में कही विद्या का ही अवधारण किया—उसकी अनधिगतार्थतत्परता का निश्चित कथन किया—ताकि आगे के साधनों का क्या और कहाँ उपयोग है यह समझना संभव हो।

परमात्मा के बारे में 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि रहस्योपदेश सुनकर भी 'उपनिषत् सुनाइये' कहने में शिष्य का अभिप्राय क्या है ? अगर जो सुन चुका उसी को पूछ रहा है तब पुनरुक्त होने से पिसे को पीसने की तरह निष्प्रयोजन कथन होगा। यह कह नहीं सकते कि उपनिषत् का कोई हिस्सा बचा होगा जिसे पूछ रहा हो, क्योंकि यदि ऐसा कुछ अभी रह गया होता तो 'अमृत हो जाते हैं' यह फल न बताया होता। फल कह चुके हैं अतः उपनिषत् पूरी हो चुकी यही मानना पड़ेगा। जब कोई हिस्सा रहा ही नहीं तो उसके

बारे में प्रश्न संगत नहीं। अतः 'उपनिषत् सुनाइये' कहने का अभिप्राय क्या है?

शिष्य का अभिप्राय यह है: पहले जो उपनिषत् सुनाई है, वह फल देने के लिए क्या फलोपकारी अंग रूप से किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखती है, या शेष न होने पर भी फलप्रद होने के लिए समुचित होने योग्य किसी सहकारी की अपेक्षा रखती है, या फिर बिना किसी की अपेक्षा किये खुद फल देती है? यदि अन्य कुछ अपेक्षित है तो वह बताइये और अगर कुछ नहीं चाहिये तो निश्चित कर कहिये जैसे पिप्पलाद ने कहा था 'इससे परे कुछ नहीं है।' इस अभिप्राय से 'उपनिषत् सुनाइये' कहा है।

उक्त अभिप्रायानुसार निरपेक्षतापक्ष का अवलम्बन करते हुए आचार्य का निश्चित कर कहना कि 'उपनिषत् तुझे सुना चुका' संगत है।

जब आगे तप दम आदि कहने हैं तब 'उपनिषत् तुझे सुना चुका' का यह अर्थ कैसे कि सुनायी गयी विद्या पूर्ण है, फलार्थ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती?

इतना ठीक है कि कुछ बताने योग्य बातें हैं जिन्हें आचार्य बताने जा रहे हैं लेकिन जो तप आदि बतायेंगे वे न उपनिषत् के शेष या फलोपकारी अंग हैं और न उन्हें सहकारी के रूप में विद्या चाहती है। वे तो ब्रह्मविद्या पाने के उपाय हैं। यह इससे पता चलता है कि तप आदि को वेद-वेदांगों के साथ तुल्य मानकर कहा गया है। वेद और उसके शिक्षा, आदि छह अंग साक्षात् ही न ब्रह्मविद्या के अंग हो सकते हैं, न सहकारी। इनका उपयोग तो दूर से ही है क्योंकि इनके ज्ञान के बाद कर्म-चित्तशुद्धि-संन्यास-शमादि-श्रवणादि से ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है।

केवल एक साथ उल्लिखित होने से अंगभाव नहीं छूट जाता, साथ कहे पदार्थों की भी योग्यता के अनुसार अलग-अलग विनियोग हो सकता है।



तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'इदं द्यावा पृथिवी' से प्रारम्भ होने वाला एक अनुवाक है जिसे सूक्तवाक कहते है। उसमें अनुमन्त्रण अर्थात् देवता विसर्जन करने के मंत्र आये हैं। उन मन्त्रों को देवतानुसार विनियुक्त किया जाता है। इसी तरह तप, कर्म, सत्य आदि को ब्रह्मविद्या का अंग मान सकते हैं या सहकारी मान सकते हैं और वेद-वेदांगों को कर्म व आत्मा के ज्ञान का उपाय मान सकते हैं क्योंकि वेद-वेदांग तो केवल अर्थ का प्रकाशन ही करते हैं। जिन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होना उपपन्न है उन्हें वैसे ही सम्बद्ध करना चाहिये। अतः यह विभाजन क्यों न माना जाये?

सूक्तवाकमन्त्रों का योग्यतानुसार सम्बन्ध है लेकिन तप आदि विद्या के अंग होने योग्य ही नहीं तो यहाँ उक्त विभाजन कैसे माना जाये? ब्रह्मविद्या तो सारे क्रिया-कारक-फल-भेदों की बुद्धि का तिरस्कार करती है, भेदबुद्धि मिटाती है, उसके अंग भेदबुद्धि से ही संभव क्रियादि नहीं हो सकते। अतः उसे किसी भिन्न अंग या सहकारी की अपेक्षा नहीं है।

कर्मों के विषय हैं उत्पाद्यादि। उन सब से विलक्षण है प्रत्यगात्मा वही ब्रह्म समझा जाये तो ब्रह्मविद्या का विषय बनता है। ब्रह्मविद्या इसी में पर्यवसन्न है, अविद्या हटकर ब्रह्ममात्र रहे—यह ब्रह्मविद्या का काम है। ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष भी कर्मफलों से विलक्षण ही है। अतः जिसे ब्रह्मविद्या विषय करेगी उस प्रत्यगात्मा के लिए भी कर्म नहीं चाहिये और फलस्वरूप मोक्ष के लिए भी नहीं चाहिये तो तपआदि कर्म अंग या सहकारी हो कैसे सकते हैं ? वे तो विद्याप्राप्ति के ही उपाय हो सकते हैं।

मोक्ष चाहते हुए हमेशा साधनसहित कर्म छोड़ना ही चाहिये। छोड़ने वाले का जो प्रत्यग्रूप पारमार्थिक स्वरूप है, छोड़ने वाला ही उसे जान सकता है।

इसलिये यह संगत ही नहीं कि कर्म ब्रह्मविद्या के सहकारी बनें या कर्मरूप किसी शेष अर्थात् अंग की ज़रूरत ब्रह्मविद्या को हो। अतः सूक्तवाक-दृष्टान्त

से विभाजन की बात व्यर्थ की है।

एवं च 'उपनिषत् सुनाइये', 'उपनिषत् सुना चुके' यह प्रश्नोत्तर यही निश्चित करने के लिए है कि जितनी कह चुके उतनी ही उपनिषत् वह ज्ञान देने में समर्थ है जो ज्ञान बिना किसी अन्य के सहारे अमृतत्व फल देता है।।७।।

## अष्टम मन्त्र

**तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।।४.८।।**

**तपः** = तपस्या **दमः** = इन्द्रियनिग्रह **कर्म** = वर्णाश्रम धर्म **इति** = ये **तस्यै** = ब्रह्मविद्या पाने के उपाय होने से उसकी **प्रतिष्ठा** = प्रतिष्ठा हैं, चरणस्थानीय हैं। **वेदाः** = वेद **सर्वाङ्गानि** = उसके सब अन्य (= पादातिरिक्त) अंग हैं। **सत्यम्** = सच **आयतनम्** = उसके रहने का स्थान है।

जो यह सगुण-निर्गुण-विषयक ब्रह्मसम्बन्धी उपनिषत् तुम्हारे सामने कही इसकी प्राप्ति के अर्थात् इसकी सफल समझ को पाने के उपाय हैं तप आदि। शरीर-इन्द्रिय-मन का निग्रह, इनसे एकाग्र प्रवृत्ति करा पाना तप है। शरीरादि विषयों की ओर न दौड़ते रहें, आत्मा में शान्त रहें, यह दम है। कर्म से अग्निहोत्रादि विवक्षित हैं।

तप आदि से जिसने अपना मन संस्कारयुक्त बना लिया है उसी का चित्त इतना शुद्ध हो पाता है कि वह तत्त्व सही समझे। अगर मनोदोष हटे नहीं हैं तो सही उपदेश भी गलत समझा जाता है जैसे इन्द्र-विरोचन के प्रसंग में दिखा चुके हैं।

अंतः चाहे इसी जन्म में तप आदि किये हों या पूर्व के बहुतेरे जन्मों में उनका अनुष्ठान किया हो; जब उनके फलस्वरूप चित्त शुद्ध हो जाता है तभी जैसा श्रवण किया जाय वैसा ज्ञान होता है, अन्यथा भ्रमादि होता है। श्रुति



भी कहती है 'जिसे महादेव में पराभक्ति है, जैसी उनमें वैसी गुरु में भी है, उस महात्मा को ये पूर्वोक्त बातें स्पष्ट होती हैं।' स्मृति में भी कहा है 'पापकर्म क्षीण हों तब लोगों को ज्ञान होता है।'

'इति' शब्द उपलक्षणार्थ है अर्थात् तप आदि की तरह अमानित्वादि अन्य भी जो ज्ञानोत्पत्ति में उपकारक हैं, सभी यहाँ समझ लेने चाहिये।

प्रतिष्ठा से पैर कहे हैं, वेदादि मानों उसके पैर हों। जैसे पैरों से पुरुष चलता है ऐसे तप आदि होने पर ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है, आगे बढ़ती है, निष्ठा तक पहुँचती है। पूर्वोक्त उपनिषत् की प्राप्ति के लिए जो उपनिषत्, रहस्यविद्या, बतायी जा रही है उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् उसके आश्रय हैं तप आदि। ब्रह्मचर्यादि तप हैं, इन्द्रियादिनिरोध दम है, अग्निहोत्रादि कर्म हैं। ये हों तभी यह ब्राह्मी उपनिषत् पक्की स्थित होगी।

वेद और उसके सारे अर्थात् छहों अंग—ये भी प्रतिष्ठा हैं। अर्थात् वेद पर ही ब्राह्मी और परा दोनों विद्याएँ आश्रित हैं क्योंकि तप आदि कर्म तथा ज्ञान दोनों का सही पता वेद से ही चल सकता है। अंग भी वेदार्थ की सुरक्षा अर्थात् सही समझ के लिये हैं अतः प्रतिष्ठा हैं।

या यों समझना चाहिये : प्रतिष्ठा-शब्द क्योंकि पैर के रूपक की कल्पना व्यक्त करने के प्रयोजन से है इसलिये अंग अर्थात् सिर आदि अन्य अवयव वेदों को कहा गया है। वेद कहने से वेदांग कह ही दिये गये। अंगी के आश्रित होने से अंगी का ग्रहण हो तो अंग स्वतः गृहीत हैं।

सत्य को श्रुति ने 'आयतन' कहा। उपनिषत् जहाँ रहती है वह आयतन है। जिसमें सत्य नहीं उसमें न तप आदि होंगे न ब्रह्मज्ञान। वास्तविकता को व्यक्त करना लेकिन ऐसे कि किसी को—वाक्ता, श्रोता, निकटवर्ती किसी को भी—पीडा न हो, सत्य कहा जाता है। जैसे लोग घर में रहते हैं ऐसे यहाँ बताये तप आदि मीमांसान्त साधन सत्यवान् में हो सकते हैं। वाणी, मन और

शारीरिक चेष्टादि किसी से भी मायावी न होना, कुटिलता न करना सत्यानुष्ठान है। जो अमायावी सत्पुरुष होते हैं उन्हीं में विद्या स्वरूपतः और फलतः स्थायी होती है। जो तो आसुरी-राक्षसी प्रकृति वाले मायावी होते हैं उनमें प्रतीत हो तो भी विद्या रहती नहीं, न ब्राह्मी और न परा। प्रश्नश्रुति भी यही कहती है। जिह्म अर्थात् कुटिलता। अतः सत्य को घर के रूप में कल्पित किया है।

तप आदि में सत्य आ ही गया, वाङ्मय तप में सत्य गिना गया है, अतः उसे प्रतिष्ठा कह ही दिया, फिर भी जो उसे आयतनरूप से पुनः कहा वह यह बताने के लिए कि ब्राह्मी और परा विद्याओं की स्थायी सफल प्राप्ति के लिए सत्य सबसे बलवान् उपाय है। स्मृति में कहा है कि हजार अश्वमेधों का पुण्य और एक सत्य का पुण्य—इन्हें तोला जाये तो एक सत्य का पुण्य ही अधिक निकलेगा। अतः सत्य का महत्त्व सर्वाधिक होने से साधक को इसका सबसे ज्यादा ख्याल रखकर अधिकाधिक प्रयास करना चाहिये कि वह झूठ से दूर हो, सत्य से डिगे नहीं।।८।।

### नवम मन्त्र

**यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।४.९।।**

**यः** = जो **एताम्** = इस ब्राह्मी समेत परा विद्या को **एवम्** = यहाँ बताये ढंग से **वेद**= जानता है, ब्राह्मी का अनुष्ठान कर परा को पाता है, वह **वै** = अवश्य **पाप्मानम्** = कार्यकारणात्मक समस्त पाप **अपहत्य** = पूरी तरह हटाकर **अनन्ते** = अपरिच्छिन्न **ज्येये** = भूमा **स्वर्गे** = सुखरूप **लोके** = आलोकात्मक परमात्मा से **प्रतितिष्ठति** = नित्य अभिन्न होता है। **प्रतितिष्ठति** = वही वास्तव में प्रतिष्ठित है।

'केनेषितम्' से प्रारम्भ हुई और 'ब्रह्म ह' आदि से प्रशंसित यह श्रेष्ठतम



ब्रह्मविद्या है जो अन्यत्र भी वेद में सब विद्याओं की 'प्रतिष्ठा' कही गयी है क्योंकि इसे एकविज्ञान से ही सर्वविज्ञान हो जाता है। तप आदि, वेद और उसके छहों अंग—ये सब इस विद्या के मानो अंग हैं क्योंकि जैसे बिना अंगों के अंगी सिद्ध नहीं होता वैसे इनके बिना अप्रतिबद्ध साक्षात्कार नहीं होता। तप आदि ब्रह्मविद्या में जाकर रुक जाते हैं, ब्रह्मविद्या होने पर वे सब प्रतिष्ठित होते हैं, आयाससाध्य न होकर सहज होते हैं। यह उपनिषत् ब्राह्मी है, ब्राह्मणों के लिए अवश्यानुष्ठेय साधन इसमें कहे हैं और परब्रह्म का ही यथार्थ वर्णन किया गया है। इसे अधिकारी समझने की कोशिश करे और ईश्वरकृपा हो तो उसे अवश्य ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। इसका आयतन है सत्य। व्यवहार में व्यावहारिक सत्य पर टिकते हुए परमार्थ सत्य की ओर बढ़ने वाला ही इस उपनिषत् से लाभान्वित होगा। इस उपनिषत् को—ब्राह्मी और परा विद्या को—जो जानता है, इसमें कहे साधनों का अनुष्ठान करता है उसे ही फल मिलेगा।

अविद्या विषय-कामना और विषय की प्राप्ति या परिहारार्थ कर्म—ये ही संसार के बीज हैं; यह बीज ही बढ़ता है तो संसारवृक्ष खड़ा हो जाता है। अविद्या रहते यह बीज पूरा नष्ट होता नहीं। सारे पाप अविद्यामूलक विषयाभिलाषा से होते हैं। अतः अविद्या और कामना एवं 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान, इन्हें सब पापों का उत्स समझना चाहिये। ब्रह्मविद्या जैसे ही अप्रतिबद्ध होती है, इस सकार्य अविद्यारूप पाप को जला डालती है। इस पाप को अभिभूत तो धर्म भी कर सकता है पर विनाश नहीं कर पाता, यह विद्या इस पाप को जड़-मूल से समाप्त करती है अतः जो धर्म-अधर्म से परे है उसी में स्थित कर देती है।

ब्रह्मज्ञान स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित करता है। वह स्वर्ग अनन्त है, अपार है, उसका अन्त है ही नहीं। क्योंकि सविषयता रहते अन्तराहित्य असंभव है इसलिए अनन्त स्वर्ग ब्रह्म ही है। जैसे स्वर्ग में प्रायः सुख ही होता है, दुःख

नहीं होता, ऐसे क्योंकि दुःखसम्बन्धरहित सुखघन ब्रह्म है इसलिए उसे भी स्वर्ग कह दिया। अनन्त कह देने से इन्द्रशासित प्रदेश की व्यावृत्ति हो गयी। केवल एक अनन्त ही विशेषण होता तो कोई सोच सकता था कि गौण प्रयोग होगा लेकिन यहाँ साथ ही ज्येय अर्थात् व्यापक भी कहा तो उसे समझना पड़ेगा जो सबसे महान् है। किसी कम महान् में रुकने का कोई हेतु नहीं। वही मुख्य महान् है।

सारे वेदान्तों से वेद्य ब्रह्म को आत्मा जानकर साधक वह ब्रह्म ही होता है, फिर संसरण की प्रक्रिया का अंग नहीं बनता है, यह तात्पर्य है।

**।। इति चतुर्थ खण्ड।।**

**ॐ आप्यायन्तु मामाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्व निराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।**